ॐ नमः सिद्धेभ्यः

जैन जाति का ह्रास

और

उन्नति के उपाय !

लेखकः—

कामताप्रसाद जैन,

उ० सं० "वीर"

दातारः—

श्रीयुत बाबू शिवचरणलालजी जैन,

रईस, जसवन्तनगर (इटावा)

प्रकाशकः—

श्री संयुक्त प्रान्तीय दि० जैन सभा के

प्रान्तीयदशा परिचायक मन्त्री

मूल्यः—

"समाज-सुधार"

मेरा प्रयोजन

पाठक वृन्द !

इस जातीय चिट्ठे रूपी पुस्तिका को आपके समक्ष रखने में मेरा प्रयोजन यही है कि समाज का आबाल-वृद्ध अपनी वर्तमान शोचनीय दशासे परिचित हो और अपना एवं अपनी जातिका मुख उज्वल करने के लिये वास्तविक सुधार को सृष्टि दे। मुझे यह प्रकट करते हर्ष है कि समाज को अपनी निर्जीव मृतप्रायः दशा का ज्ञान हो चला है और वह उस पर गम्भीर विचार भी करने लगी है। श्री भारतवर्षीय दि० जैन परिषद् ने सामाजिक ह्रास के कारणों और उसके उपायों की खोज के लिये एक कमेटी नियुक्त की थी और उस कमेटी का मेम्बर होने का सौभाग्य मुझे भी प्राप्त था। मैंने उसी समय से इस विषय की गवेषणा करना प्रारम्भ करदी थी। इतने में अजमेर के श्री दि० जैन विद्यालय भण्डार ने भी इस विषय पर निबन्ध मंगाये। मैं परिषद् के प्रस्तावानुसार जो लेख लिख रहा था उस ही को उक्त भण्डार की परीक्षक कमेटी के पास भेज दिया। प्रसन्नताकी बात है कि परीक्षक कमेटी ने उसे स्वीकृत और पुरस्कृत किया। आज वही निबन्ध इस पुस्तक-रूप में प्रकट हो रहा है।

उधर श्री संयुक्त प्रान्तीय दि० जैन सभा ने भी इस प्रान्त के जैनियों की दशा सुधारने के विचार से ऐसा ही प्रस्ताव स्वीकृत किया। एवं इस प्रान्त के जैनियों का परिचय प्राप्त करने के लिये मेरे प्रिय मित्र बाबू शिवचरणलाल जी को नियुक्त किया। सारांश यह कि अखिल भारतीय और प्रान्तीय

जैन संगठनों में समाज-सुधार की चर्चा उठ खड़ी हुई। उस ही के अनुरूप मेरे उक्त प्रिय मित्र ने अपनी प्रदत्त रकम से इस पुस्तक को जैनजाति में विना मूल्य वितरण का आयोजन किया। उसी अनुरूप यह पुस्तक श्री संयुक्तप्रान्तीय दि० जैन सभा की ओर से प्रकट हो रही है। विश्वास है कि समाज के प्रमुख पुरुष और उत्साही नव-युवक इससे समुचित लाभ उठावेंगे। एव अपनी सामाजिक दशा का परिचय प्राप्त कर उसको समुन्नत बनाने में अग्रसर होंगे। अब भी ढील की तो मरण सन्मुख! खसकती कोर पर खड़े ही हो, जरा ठेस लगी कि अरर धम! इस दशा से बचो और जीवित जाति बनो। जिससे कोई आपके धर्म और आपकी समाज का अपमान न कर सके। विशेष किमधिकम्।

रक्षाबन्धन २४५१
अलीगञ्ज (एटा)

—समाज हितैषी
कामताप्रसाद जैन

समर्पण

श्रीयुत् बाबू शिवचरणलाल जी जैन रईस

की सेवा में

प्रिय शिव !

आपका अनन्य प्रेम जिस विषय से है उस ही विषय की यह कृति आपके कर कमलों में सादर सप्रेम समर्पित है। मुझे विश्वास है कि आपका जातीय-प्रेमप्लवित हृदय इस तुच्छ 'भेंट' को स्वीकार कर जात्योत्थान के निमित्त हम दोनों को उपर्युक्त कार्य करने के लिये उत्साहित करेगा। वीर भगवान ! यह शक्ति प्रत्येक जैन युवक के हृदयमें व्याप्तहो, यही भावना है। एवं भवतु!

आपका वही:—

'के० पी०'

जैनजाति के ह्रास होने के

कारण

और उनके दूर करने के

शास्त्र सम्मत उपाय !

"हम कौन थे क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी।
आओ, विचारें आज मिलकर ये समस्याएं सभी॥"

—भारत भारती

"जैन जाति के ह्रास होने के कारण और उनके दूर करने के शास्त्र सम्मत उपायों" के विषय में लिखने के पहिले वैज्ञानिक अनुरूप में यह जान लेना आवश्यक है कि जैन जाति है क्या ? वह कब से है ? और उसकी पूर्व में क्या दशा रही है ? इन बातों के जाने बिना कोई भी व्यक्ति उसके ह्रास के विषय में एक दम लेखनी को प्रवृत्त नहीं करेगा। अतएव जैन जाति के सम्बन्ध में उपरोक्त जटिल प्रश्न पर विचार करने के पहिले सामान्यता से उसका पूर्वदर्शन करना प्रासंगिक है।

जैनधर्म जो कि एक वैज्ञानिक सर्वज्ञ प्रणीत धर्म प्रमाणित हुआ है, उससे ज्ञात होता है कि इसी भारतवर्ष में एक समय वह था जब यहां भोग भूमि अवस्थित थी, अर्थात् लोगों को अपने जीवन निर्वाह के लिये प्रयत्न नहीं करने पड़ते थे और वे सुखी सुखी जीवन व्यतीत करते थे। इस समय किसी प्रकार के धर्म की भी व्यवस्था नहीं थी। जीवों की पुण्य प्रकृति क्षीण होने लगी और समय आगया कि उनका वह सुखमय जीवन नष्ट हो जाय। मनु वा कुलकर लोग अवतीर्ण हुए और वे मानवों को आवश्यक्ताओं की पूर्ति का मार्ग बताते गए। अन्ततः अन्तिम मनु नाभिराय और उनके पुत्र ऋषभदेव के समय पूर्णतया कर्म-युग का ज़माना आगया था अर्थात् लोगों को बिना उद्योग किये जीवन-निर्वाह करना कठिन होगया था। परन्तु जनता कर्मक्षेत्र के कर्तव्यों से अनभिज्ञ थी। इसलिये विशिष्ट ज्ञानधारी राजकुमार ऋषभदेव ने उनको असि मसि आदि षट्आवश्यक जीवन कर्तव्यों का मार्ग सुझाया और मानवों को सुव्यवस्थित रखने के लिये उन्हों ने वर्णव्यवस्था स्थापित की, जिससे उनके लौकिक जीवन सुखमय व्यतीत होते रहें।

आदिपुराण में वर्णों की उत्पत्ति के विषय में लिखा है कि जब भोगभूमि समाप्त हुई तब भगवान आदिनाथ ने प्रजाजनों को उनकी आजीविका के वास्ते असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प ये छः कर्म सिखाये। क्योंकि उस समय भगवान सरागी थे, वीतराग नहीं थे। उस ही समय भगवान ने तीन वर्ण प्रकट किये। जिन्हों ने हथियार बाँधकर रक्षा करने का कार्य लिया वे क्षत्री कहलाये, जो खेती व्यापार और पशु पालन करने लगे वे वैश्य हुए और सेवा करने वाले शूद्र कहलाये। (देखो पर्व १६ श्लोक १७९—१८५)

इस प्रकार संसार का व्यवहार चलाने के लिये भगवान ऋषभदेव ने अपनी राज्यावस्था में वर्णों की स्थापना की। इस समय तक जनता के मध्य कोई भी धर्म मर्यादा नहीं थी। क्योंकि धर्म का स्वरूप सर्व प्रथम इस युग में भगवान ऋषभदेव ही सर्वज्ञता प्राप्त करने उपरान्त समझाया था। इस कारण इन वर्णों की स्थापना होने पश्चात् जब भगवान ऋषभदेव सर्वज्ञ होगये तब उन्हों ने सर्व प्रथम धर्म का व्याख्यान वस्तु स्वरूप में किया। और यही व्याख्यान जैनधर्म के नाम से प्रख्यात् हुआ। उस धर्म के मानने वाले जैनी कहलाए। जिनका समूह आज जैन जाति के नाम से प्रकट है। भगवान के समय में प्रधानता जैनियों की थी। यद्यपि धर्म की अजानकारी जो बहुत से राजादि ऋषभदेव जी के साथ गृहत्याग कर संयम में लीन हुए थे वह भ्रष्ट होकर अन्य मतों के संचालक हुए थे। उपरान्त में ऋषभदेव जी के पुत्र प्रथम सार्वभौम सम्राट्-चक्रवर्ती भरत ने, जिन के नाम की अपेक्षा यह देश भारतवर्ष कहलाता है, अणुव्रती पुण्यशाली उत्तम पात्रोंको दान देना चाहा। सर्व वर्णों में से अणुव्रती श्रावक दान ग्रहण करने गये। संभव है कि इनमें मुख्यता हीन और मध्यम श्रेणी के मनुष्यों की हो, क्योंकि सुख समृद्धशा में अवस्थित व्रती मनुष्यों को उसको ग्रहण करने की इच्छा नहीं हो सकती। अतएव जो श्रावक महाराज भरत जी के यहां दान ग्रहण करने गये थे उनको धार्मिक प्रवृत्ति का ध्यान धरके स्वयं भरत जी ने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की। यही वर्ण भगवान ऋषभदेव के कथनानुसार पंचम काल में अपने मूल धर्म-जैनधर्म का विरोधी हुआ।

इस प्रकार हम इस युग में जैनधर्म की उत्पत्ति और जैन

जाति का निकास होते देखते हैं। साथ ही मनुष्यों के मध्य वर्ण व्यवस्था की स्थापना का भी दिग्दर्शन करते हैं। इसके विपरीत अन्य प्रकार से द्रव्य के यथार्थ रूप की अपेक्षा जैन जाति और जैनधर्म अनादि से हैं और अनादि काल तक रहेंगे अतएव इस अनादिनिधन जैनधर्म के विषय में किञ्चित यह भी देखना शेष है कि पूर्व में उसकी दशा क्या रही है ?

भगवान ऋषभदेव के उपरान्त एक दीर्घ समय के अन्तराल से विविध तीर्थंकर और अन्य महान पुरुष होते रहे हैं। यह सब जैनधर्मानुयायी थे। परन्तु भगवान शीतलनाथ जी के समय ब्राह्मणों में शिथिलाचार प्रवेश कर गया था और वे अपने इस आचार की पुष्टि में अनार्ष ग्रन्थों की रचना भी करने लगे थे। और आश्रय प्राप्त करने को संरक्षक भी उन्होंने अवश्य पा लिये थे। पश्चात् भगवान मुनिसुव्रतनाथ के समय में यज्ञादि का निरूपण करके यह ब्राह्मण लोग आर्ष धर्म से प्रतिकूल हो गए थे। यहीं से प्राचीन रीति रिवाजों में पूर्ण अन्तर पड़ना प्रारम्भ हो गया था। पश्चात् दोनों धर्म प्रथक प्रथक होकर अपने २ मतों का प्रचार करते रहे थे। अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर जी के समय तो कितनेक धर्मपन्थ प्रचलित थे। इस समय इतिहास प्रसिद्ध श्रेणिक-बिम्बसार, अजातशत्रु, जीवंधर, जितशत्रु, शतनीक-चण्डप्रद्योत आदि राजा लोग जैनधर्मानुयायी थे। इस समय में भी प्राचीन रीति रिवाजों में कम अन्तर पड़ा था। जीवंधर कुमार के वर्णन से तो विवाह क्षेत्र की विशालता देख, आश्चर्य करना पड़ता है। कुमार जिस समय श्रेष्ठि के यहां भरणपोषण पा रहे थे उस समय तक तो नहीं किन्तु उपरान्त में विदेश यात्रा कर आने के बाद ही, उनको अपने क्षत्री - राज-पुत्र होने का परिचय

प्राप्त हुआ था। (देखो चत्र चूड़ामणि काव्य)। परन्तु अपनी विदेश यात्रा में वे सर्व वर्णों की कन्याओं को उसी भाँति गृहण कर लाए थे जिस भांति चक्रवर्ती लोग सर्व वर्णों में से ही नहीं प्रत्युत म्लेच्छों में से भी कन्यायें ले आते थे। भाव यह है कि अन्तिम तीर्थंकर के समय तक और उपरान्ततक प्राचीन रीति रिवाज चालू थे। परन्तु ज्यों२ विदेशियों के आक्रमण होते गए और लोगों को अपने जीवनों की रक्षा करना भी दूभर हुई त्यों २ वह उनसे दूर हटते गए। अन्त में एक समय ऐसा आया कि प्राचीन रीति रिवाजों का लोगों को भान ही न रहा। और लोग जहाँके तहाँ टोली बाँध बांध अपने २ स्वीकृत रिवाजों की रक्षा करते रहे। उन्हें अपने अन्य पड़ौसी साधर्मी भाइयों के व्यवहारों से परिचय ही न रहा। यह खास कर मुसलमानी समय में हुआ। और जहाँ २ मुसलमानों का आधिपत्य दीर्घ काल तक अच्छी तरह से रहा वहाँ २ प्राचीन रीति रिवाज बिल्कुल ही लुप्त होगये। इस व्याख्या की पुष्टि में उत्तर और दक्षिण की जैन समाज के रीति रिवाज प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। दक्षिण में मुसलमानों की दस्तन्दाज़ी कम हुई। इसी कारण वहाँ शास्त्रों में वर्णित प्राचीन रिवाजोंकी झलक मिलती है। अतः इस कथनसे यह प्रकट है कि प्राचीन जैन रिवाजों में समयानुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के प्रभावानुसार परिवर्तन होते रहे हैं। और उसमें प्रख्यात राजा महाराजा भी होते रहे हैं। सम्राट् चन्द्रगुप्त जैन थे। यह समग्र भारत के अधिपति थे। अतएव इनके समय में अवश्य ही जैनधर्म राष्ट्र धर्म रहा होगा। सम्राट् अशोक, सम्प्रति, खारवेल, कुमारपाल, कुम्भ, अमोघवर्ष आदि नृप जैन ही थे। जैनियों में चामुण्डराय, असराज सदृश योद्धा थे। भामाशाह

सदृश देशभक्त और तेजपाल वस्तुपाल सदृश दानी श्रावक थे। तथैव कुन्दकुन्दाचार्य और समन्तभद्राचार्य सदृश निर्ग्रंथ महाविद्वान आचार्य थे। इन्होंने ही जैनधर्म को गौरव गरिमा को दिगन्त व्यापिनी बना दिया था। जिसकी साक्षी आज भी उन के शिल्प के अद्भुत कार्य और अतुल साहित्य-रत्न है। परन्तु दुःख है कि आज वह नररत्न जैनधर्म की प्रभा-वना चढ़ानेको प्राप्त नहीं है। आज जैनजाति जीवित जातियों में नहीं गिनी जाती। आज चारों ओर से अपमान २ की ही बौछारें उसके ऊपर पड़ रही है। वह प्रति वर्ष बड़े वेग के साथ घटती चली जाती है। इन सब हताश करने वाली बातों का उत्तर पानेके लिये हमको देखना चाहिये कि हमारे पूर्वजों में क्या गुण थे जो वे उतने उन्नत और सुख समृद्धशाली थे।

हमारे पूर्वजों में पहिली बात तो यह थी कि उन में धर्म के चारों संघ-मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका-विद्यमान थे। इसलिए धर्म की पूर्ण उन्नति थी। और उसके महत्व एवं कर्तव्यों को सर्व समझे हुए थे। मुनि और आर्यिका संघ के कारण श्रावकों के जीवन धर्मनिष्ठ बने रहते थे। उनका धार्मिक ज्ञान उन महान आत्माओं के संसर्ग से सदैव उन्नत होता रहता था जिसके कारण उनकी आत्माएं बलवान रहती थीं और वे लौकिक एवं पारिलौकिक दोनों कार्यों को दृढ़ता के साथ कर सकते थे। उनकी ज्ञानवृद्धि और पुण्योपार्जन के साक्षात् कारण अनागारगण विद्यमान थे। जिनका कि आज बिल्कुल अभाव ही है। भारत में धर्म ही सर्व उन्नतियों का मूल कारण माना गया है। तिसके प्रचार और संभाल के कारण उनमें मौजूद थे। अतएव सुखसमृद्धशाली दशा को प्राप्त करने के अन्य कारण भी अवश्य ही उनको उपलब्ध थे।

लौकिक जीवन उन्नत बनाने के लिये सम्पत्ति मुख्य मानी गई है। सो जहाँ धर्म वहाँ यह अवश्य होना चाहिये। और वस्तुतः प्राचीन जैनजाति में यह थी ही। इस के विना संसार में गृहस्थों का कालक्षेप करना कठिन है। सम्पत्ति और मनुष्य में घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनुष्य की उन्नति-व्यक्तिगत, सामाजिक या राष्ट्रीय-सम्पत्ति के उचित प्रयोग पर निर्धारित है; और साथ ही सम्पत्ति की उत्पत्ति मनुष्य की उत्तमता शारीरिक, मानसिक और चारित्रिक (Moral)-पर निर्भर है। जिसमें जितनी योग्यता है वह उतना ही सम्पत्तिमान् होता है। सुयोग्य अयोग्यों से अधिक सम्पत्ति सञ्चय करके प्रति दिन उन्नत बनता जाता है। और अयोग्य सम्पत्ति हीन हो कर अवनति के गहरे गढ़हे में गिर जाता है। सुयोग्य सम्पत्तिमान और धीमान बनता है। और अयोग्य क्षीण हीन होकर मर मिटता है। दूसरे शब्दों में यही बात यों कही जा सकती है कि अधिक सम्पत्तिमान अधिक सुयोग्य बन सकता है। सम्पत्तिमान जीता है और सम्पत्ति हीन की मृत्यु होती है। (देखो देश दर्शन पृष्ट २)। हमारे पूर्वजों में साधु साध्वीयों की देखभाल में सम्पत्ति संचय करने की योग्यता प्राप्त थी और वह उनकी शिक्षा दीक्षा में उसका उचित प्रयोग भी करना जानते थे। यही कारण था कि उनके जीवन उन्नत थे। परन्तु आज इन सब बातोंका लोप है। श्वेताम्बर समाज में किंचित साधुओं की देख रेख श्रावकों पर है और उनमें सम्पत्ति भी अधिक है। योग्यता प्राप्त करने में पुण्यमय कारण का समागम विशेष सहायक है।

योग्य मनुष्य के खास गुणों पर विचार करने से कहना होगा कि पहिले तो उनका जीवन धर्ममय होना चाहिये; जिस से आत्मिक बल की वृद्धि हो और मानसिक एकाग्रता प्राप्त

हो। फिर आत्मोन्नति के उपरान्त बुद्धि और शारीरिक वल वढ़े चढ़े होना चाहिए। जितनी बुद्धि विकास को प्राप्त होगी उतनी ही योग्यता मनुष्य प्राप्त कर सकता है। तथापि जितना ही शारीरिक वल मनुष्य का वढ़ा होगा उतना ही अधिक श्रम कर सकेगा। और जितना ही अधिक श्रम करेगा उतना ही अधिक धनोपार्जन कर सकता है और उसे उचित रीति से व्यय करके जीवन उन्नत वना सकता है। यद्यपि यह अवश्य है कि इन योग्यताओं की प्राप्ति में उस समय के देशके राज निर्यम और जाति के रीति रिवाज भी वाधक वा साधक होते हैं। इसलिए उन का भी समुचित होना आवश्यक है। अतएव कहना होगा कि "अन्य जातियों के सम्मुख जीवित रहने के लिये, संसार में अपना अस्तित्व रखने के लिये, मनुष्य में मनुष्य के गुण होने चाहियें। मूर्ख और वलहीन मनुष्य देश व जाति को लाभ पहुंचाने के वदले हानि पहुंचाते हैं और सुयोग्य वनने के लिये पैतृक और सामाजिक संस्कार की शुद्धता, आचरण या चरित्र की पवित्रता, निर्मल जल, शुद्ध वायु, पुष्टिदायक भोजन, स्वच्छ हवादार मकान, इन्द्रिय निग्रह, स्वास्थ्य रक्षा और उत्तम चिकित्सा शास्त्र का ज्ञान, सर्व प्रकार की विद्या और सर्वोपरि स्वतन्त्रता की परम आवश्यक्ता है।" (देखो देशदर्शन पृष्ठ ६–७)। हमारे पूर्वजों में यह सर्व गुण अवश्य ही थे। तव ही वह इतना उन्नत जीवन विता सके थे कि आज भी उनकी गुण गरिमा संसार के नेत्रों को चुंधिया रही है। किंतु क्या कारण कि हम उनकी संतान इन गुणों को खो वैठे हैं। और अवनत हेय-लज्जा मय जीवन व्यतीत कर रहे हैं ?

संभव है कि मेरे कोई मित्र इस पर कहें कि अव ज़माना

यह आता जारहा है कि सर्व वस्तुएँ हेय होकर ह्रास को प्राप्त होती जाँयगी। और अन्त में नष्ट हो जाँयगी। यह स्वाभाविक अमिट बात है इस पर दुख किस बात का! संसार के और जैन जाति के जो उदय में है वही होगा। उसके विपरीत हो नहीं सकता! पुरुषार्थ करने से कोई विधि की मेख को पलट नहीं सकता। इस व्याख्या के उत्तर में मैं अपने ऐसे मान्य मित्र से पूछूंगा कि यह ज़माने का ह्रास क्रम क्या केवल जैनियों के ही पल्ले पड़ा है? क्या कारण है कि ईसाई आदि विधर्मी सर्व प्रकार की उन्नति कर रहे हैं और जैनधर्म इस गति से हीन होता जारहा है कि कठिनता से पूरे २०० वर्ष तक वह अपना अस्तित्व ही स्थिर रख सके? तिस पर जैन शास्त्रों में स्वयं कहा है कि पंचम काल के अन्ततक जैनधर्म रहेगा। यद्यपि जुगनू की भांति लुप्त और प्रकट होता रहेगा। इस अपेक्षा से भी जैनधर्म वा जाति का ह्रास दैवी नहीं माना जा सकता। और इस कारण उसके उद्धार के निमित्त हाथ पर हाथ धर कर भी नहीं बैठा जा सकता। जो सज्जन भवितव्य को सब कुछ समझ कर इस ओर पुरुषार्थ करना हेय बतलाते हैं वह अपने भवितव्यता के दृढ विश्वास में कभी भी अपने दैनिक जीवन को उसके आधीन नहीं छोड़ देते! यही तर्क उनके विश्वास को लचर प्रमाणित करती है। बात यह है कि ऐसे सज्जन कर्म और पुरुषार्थ के यथार्थ रूप और सम्बन्ध से अनभिज्ञ हैं। 'जैनसिद्धान्त' की अपेक्षा कर्म दो प्रकार का होता है—(१) द्रव्य (२) और भाव कर्म। आत्मा के परिणामों का नाम भाव कर्म है। और वचन एवं काय की क्रिया का नाम क्रिया है। किन्तु यह वचन और काय की क्रिया मन के शुभाशुभ विचारों के आधीन है। इसीलिये यह भी भाव कर्म में

सम्मिलित है। और जैनधर्म का यह सिद्धान्त है कि समस्त लोकमें सूक्ष्म पुद्गल के परमाणु भरे हुए हैं जिनमें यह विशेषता है कि वह भाव कर्म के प्रभाव से संसारी आत्मा की ओर खिंचते हैं और उससे बंध जाते हैं। और शुभाशुभ भाव कर्म के अनुसार उन परमाणुओं में अपने समय पर आकर आत्मा को सुखदुख देने, औरआत्माकी अच्छी बुरी दशा करनेकी शक्ति उत्पन्न हो जाती है। अतएव आत्मा के साथ बंधे हुए इन सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं का नाम ही द्रव्य कर्म है। अब देखना चाहिये कि पुरुषार्थ किसको कहते हैं? निश्चय में जो आत्मा का निज शुद्ध स्वभाव अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य आदि है वह ही आत्मा का पुरुषार्थ है। और यही उत्कृष्ट है। परन्तु व्यवहार में आत्मा अपनी उन्नति, और अपनी सासारिक अवस्था अच्छी करने के लिये जो प्रयत्न करता है उसका नाम पुरुषार्थ है। और जब कि इन प्रयत्नों की जड़ भी रागद्वेषादि ही हैं तब वास्तव में संसारी आत्मा के शुभाशुभ विचार अर्थात् भावकर्म ही पुरुषार्थ हैं। इसलिये जब कि द्रव्य कर्म अर्थात् भवितव्य (तक़दीर) भाव कर्म अर्थात् पुरुषार्थ के अनुसार बंधती है यानी अच्छे विचार और अच्छे कर्म से अच्छी तकदीर बनती है। और बुरे विचार और बुरी क्रियायों से बुरी तकदीर बनती है। तब इस अपेक्षा कर कह सकते हैं कि तक़दीर पुरुषार्थ के आधीन है और पुरुषार्थ बड़ा है। परन्तु कुछ अवसरों पर पूर्व संचित कर्म ऐसा प्रबल होता है कि वह उदय काल में मनुष्य के विचारों और क्रियायों पर अपना प्रभाव डाल कर उनको शुभप्रवृत्ति की ओर नहीं जाने देता। इस अपेक्षा से कर्म (भवितव्यता) को बड़ा कह सकते हैं: परंतु ऐसी दशा में भी यदि मनुष्य प्रयत्न शुभ प्रवृत्ति की

ओर किये जायगा तो पिछले बुरे कर्म के मन्द होने पर अवश्य सफल मनोरथ होगा। अतएव पुरुषार्थ करते रहने से यद्यपि किसी निश्चित समय में सफलता प्राप्त न हो परन्तु वह एक समय प्राप्त होती अवश्य है। (देखो जैन कर्म फिलासफी) इसलिये पुरुषार्थ करना प्रत्येक दशा में आवश्यक है। पुरुषार्थ के बल ही तकदीर का अस्तित्व है। इस कारण भवितव्यता के भरोसे बैठना बुद्धिमत्ता नहीं कही जा सकती है। अतएव जैन समाज का जो ह्रास उसमें योग्य मनुष्य गुण न होनेके कारण हो रहा है उसके रोकने में अवश्य ही हमें पुरुषार्थ शील हो कटिबद्ध हो जाना चाहिये। तब ही वह पंचमकाल के अन्त तक जीवित रह सकती है। और अपनी प्राचीन गौरवगरिमा पुनः प्राप्त कर संसार को सुखशांति का संदेश सुना सकती है भवितव्यता का निराशाजनक ढकोसला उसके मग में बाधक नहीं होसकता। निरुत्साही निराशा के पंजे से प्रत्येक जैनी को उन्नति करने के लिये निकलना अत्यावश्यक है। अस्तु अब देखना है कि क्या कारण है जिनके वश जैनियों में मनुष्य गुणों का अभाव है और उनमें वह नर रत्न नहीं है जो उनके सामाजिक जीवन को उन्नत बनाने में सहायक होते?

आज जैन समाज की दशा पर दृष्टि डालते ही आँखों अगाड़ी अँधेरा छा जाता है। उसकी जनसंख्या और उसके विद्वानों की गणना करते ही हृदय थर्रा जाता है। विस्मय होता है कि किस तरह जैनधर्म प्राचीन काल में भारत का राष्ट्र धर्म रह चुका है। आज तो वह नाम मात्र को अवशेष है। न उसके अनुयायियों में आज कोई राजा है, न सैनिक है और न सेनापति। न ऐसे ही कार्यपटु विद्वान हैं जो राज-

व्यवस्था में उच्च भाग लिये हों और उसके स्वत्वोंकी रक्षा कर सकते हों। अथवा उनकी धाक-सभ्य संसार में जमी हो। न शिल्प और न वाणिज्य में ही उनकी प्रधानता है। सारांश में वह सब-तरह से हीन हो रही है और शारीरिक मानसिक एवं चारित्रिक मनुष्य गुणों में करीब २ दिवाला निकाले हो बैठी हुई हैं। यही कारण है कि प्रति दश साल में पौन लाख के करीब घट जाती है। तिस पर भी तुर्रा यह है कि उस में परस्पर मान मद के घोड़ों पर चढ़ खूब घुड़ दौड़ हुआ करती है। इसकी ऐसी दशा हो रही है कि यदि यह इस ही रूप में बनो रही तो सौ दो सौ वर्ष में लोक से इसका अस्तित्व ही लुप्त हो जायगा। इसकी जन संख्या किस तेजी के साथ घट रही है यह जरा देखिये:—

सन् १८९१ में वह कुल १४,१६,६३८ थी।
सन् १९०१ " " १३,३४,१४० "
सन् १९११ " " १२,४८,१८२ "

और सन् १९२१ में मात्र ११,७८००० रह गई है। इससे प्रकट है कि तीस वर्ष में जैनियों की संख्या दो लाख चालीस हजार घट गई है। जब कि भारतवर्ष की जन संख्या तीसवर्ष में सत्ताईस करोड़ से बढ़ कर बत्तीस करोड हो गई है। इस ज़माने में अन्यधर्मों ने उन्नति की, पर जैनी घट गए। यह जटिल प्रश्न उनके जीवन मरण का प्रश्न है। क्या कारण है कि अन्य भारतवासियों के साथ ही साथ उनकी संख्या भी नहीं बढ़ी जब कि हम देखते हैं कि अन्यों की संख्या बराबर बढ़ती रही है। जैसे कि भारत

की संख्या के उक्त अंकों से और अन्य धर्मों के निम्न कोष्टक से विदित है:-

धर्म	सन् १८९१ से १९०१ तक जन संख्या में प्रतिशत घटना या बढ़ना।	सन् १९०१ से १९११ तक जनसंख्या में प्रतिशत घटना तथा बढ़ना।
बौद्ध	+ ३२.९ बढ़ना	+१३.१ बढ़ना
ईसाई	+ २८ "	+३२.६ "
सिक्ख	+ १५.१ "	+ ६.३३ "
मु०मा०	+ ८.९ "	+ ६.७ "
हिन्दू	-.३ घटना	+ १५.०४ "
जैनी	- ५.२ "	- ६.४ घटना

इस कोष्टक से साफ प्रकट है कि १९०१ ई० से १९११ ई० तक के दस वर्षों में कुल भारतवासी ११.८ प्रति सैकड़ा और कुल हिन्दू १५.०४ प्रति सैकड़ा बढ़े, परन्तु अभागे जैनी ६.४ प्रति सैकड़ा कम हुए। जैनी भी अन्य भारतीयों की भांति बढ़ने चाहिये थे परन्तु उनकी उलटी वास्तविक घटी १८.२ प्रति सैकड़ा हुई है। हमारी यह दशा हमारे कान खड़े कर देने के लिये पर्याप्त है किन्तु दुःख है कि अब भी हम इस ओर से अचेत पड़े हैं। और पुराने ढर्रे में पड़े हुए इसी तरह पिस जाना पसन्द कर रहे हैं। हमें मालूम है कि हमारे शरीर में घुन लग रहा है और वह बहुत तेजी के साथ हमारे जीवन का अन्त कर रहा है परन्तु तो भी हम उस घुन को निकालने के लिये कटिबद्ध नहीं हैं। भाइयो! याद रखिये कोई जाति कितनी ही बड़ी-करोड़ों की संख्या की क्यों न हो, वह भी इस घटती रफ्तार से एक दिन नष्ट हो जावेगी। कदापि जीवित नहीं रह सकती। तिस पर

आपकी संख्या तो उङ्गलियों पर गिनने योग्य है। इसलिये मृत्यु के मुख से बचना है तो आलस्य को छोड़िये, जड़ता को त्यागिये, हियेकी खोलिये और अपने धर्म-कर्म को पहिचानिये। बहुत सो चुके, ज़माना बदल गया, शरीर में घुन लग गया, मरणासन्न हो गए! अब भी चेत जाइये और इन अगाड़ी बतलाए हुए कारणों को शीघ्र ही दूर कर दीजिए। ज़रा गौर कर देखिए कि वह किस भयानक रीति से आपके जीवन तन्तुओं को भक्षण कर रहे हैं!

जैनसमाज के ह्रास के कारण एक नहीं, दो नही, किन्तु अगणित हो रहे हैं। इसलिये प्रत्येक मनुष्य उनका दिग्दर्शन करा भी नही सकता। उनका पूर्ण दिग्दर्शन तो प्रत्येक जैनी भाई एकान्त में बैठ कर निश्चल हृदय से स्थानीय दशा का अवलोकन कर अनुभव कर सकते हैं। यह रोग आजका नहीं-कल का नहीं, प्रत्युत एक दीर्घ काल से समाज के मध्य घुसा है। यह राज्यरोग है। इसको परीक्षा और उपचार सुयोग्य अनुभवी वैद्यों के वश है। परन्तु समाज की दशा से परिचित और दुखित नवीन हृदय भी अवश्य ही इस ओर प्रकाश डाल सकते हैं। अतएव कहना होगा कि यद्यपि जैन समाज भारत के विविध प्रान्तों में बसा हुआ है, इस कारण प्रान्त भेद से उनके रीतिरिवाजों में भी अवश्य अन्तर पड़ा हुआ है। किन्तु उनके ह्रास के कारणों में अधिक अन्तर नहीं है। यह प्राय एक ही से हैं तो भी यह सम्भव है कि एक प्रान्त में एक खास कारण से जैनियों का ह्रास हुआ हो तो दूसरे प्रान्त में उसके विपरीत किसी अन्य कारण से वही नौबत नसीब हुई हो। इसलिये समग्र जैनसमाज के ह्रास के कारण साधारणतः एक समान ही होना सम्भवित होते हे।

यह तो प्रकट ही है कि जैनजाति जीवित, नीरोग और भनवान जाति नहीं है क्योंकि सम्पत्ति शास्त्र के वेत्ताओं का कथन है कि ऐसी सर्वसम्पन्न जाति २५ वर्ष में दुगुणी हो जाती है। माल्थस साहब ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि यदि खाने पीने की सुविधा हो तो हर देश की जनसंख्या हर पचीसवें साल दूनी होजाती है। परन्तु जैनसमाज इस स्वाभाविक वृद्धि की उपेक्षा करके उल्टी घटी ही है; इससे प्रमाणित होता है कि उसके ह्रास के कारण उसके सामाजिक जीवन में ही विद्यमान हैं। अतएव इन कारणों को वहीं ढूंढना और प्रकट करना आवश्यक है, तबही उनके दूर करने के उपाय सोचे जा सकते हैं।

विचार करने से कहना होगा कि जैनसमाज के नाश होने के मुख्य कारण निम्न प्रकार हैं:—

१ अनागारसंघ-साधु महात्माओं का लोप, जैसे कि पहिले देख आए हैं।
२ योग्य मनुष्य गुणों का अभाव जिसका कारण शेष बातें हैं।
३ दैवी कोप (प्लेगादि रोग)
४ निर्धनता या दरिद्रता।
५ स्वास्थ्य और उच्चशिक्षा की ओर से उदासीनता।
६ बाल्यविवाह।
७ वृद्ध विवाह।
८ अनमेल विवाह।
९ व्यभिचार।
१० पुरुषों का अविवाहित रह जाना।
११ छोटी २ जातियों का होना और अपनी जाति के अतिरिक्त अन्य जाति में विवाह न करना।

१२ विवाह में बाधक अन्य कारण एवं आपसी विरोध।
१३ स्त्रियों को उचित देखभाल और सम्मान न करना।
१४ गांवों को छोड़ कर शहरों में रहना, और
१५ निजधर्म से अभिज्ञ होने के कारण आर्यसमाजी या हिन्दू आदि विधर्मी हो जाना और अन्यों को जैनी न बनाना।

पहिले कारण साधु-साध्वी के अभाव में जो हानि समाज को हो रही है उसका दिग्दर्शन हम पहिले करा चुके है। वस्तुतः जैन समाज की उन्नति की जड़ इस मूल कारण को दूर कर देने मे है। और यह दूर तवही हो सकता है जब समाज के अनुभवी विचारवान पुरुष धर्म के मूलभाव को समझ कर त्याग के महत्व को समझें। और अपने जीवन से इस बात का उदाहरण उपस्थित करदें कि प्राचीन काल की भांति आज भी जैनी गृहस्थ सुखलाभ करके परभव सुधारने के लिये सयम का पालन कर सकते हैं। वर्तमान मे जो कुछ भी ऐसे सयमी पुरुष हैं उनका प्रथम कर्तव्य है कि वह अपनी आत्मोन्नति करने के साथ ही साथ पंचाणुव्रतों का प्रचार समाज मे करें और त्याग भाव के महत्व को समाज के अधिकवयी पुरुषों को समझा कर उन्हें इस संयम मार्ग पर लेआवें। ऐसे संयमी पुरुष यदि प्रत्येक प्रान्त में आधी २ दर्जन भी हो जावें तो जैन धर्म के यथार्थ भाव को जैनी समझ जावें और उसका पालन वे लीक पीटने की भाँति न करें। प्रत्युत उसको अच्छी तरह समझ कर वे अपने जीवन धर्ममय बनालें। उनके जीवन यदि वास्तविक धर्ममय बन जायेंगे तो उनकी उन्नति होने मे देर नहीं लगेगी। अतएव इस प्रथम कारण की पूर्ति करना परमावश्यक है।

आजकल साधारण तौरसे अनागार गुरुजनों के कर्तव्य की पूर्ति का भार हमारे गण्यमान्य संस्कृतज्ञ पंडितों ने लेलिया है। परन्तु वह विशेष कारणोंवश निर्ग्रन्थ गुरु अथवा उदासीन निःपक्ष श्रावक की भाँति सामाजिक व्यवस्था लाने में असमर्थ हैं। उनको इतना अवसर ही प्राप्त नहीं है कि वह समग्र भारत के जैनियों की दशा का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त कर सकें और उसकी उन्नति का उपाय शुद्ध हृदय से जनता को बता सकें। प्रत्युत देखने में उनके कार्यों से यही प्रमाणित होता है कि उनके द्वारा समाज का अनिष्ट किन्हीं बातों में विशेष कर हो रहा है। एक खास बात तो यह है कि वह बहुधा पराधीन एवं परमुखापेक्षी होने के कारण अपने निजी भावों को प्रकट भी नहीं कर सकते हैं। उनके विषय में वस्तुतः पूर्वाचार्य के निम्न शब्द याद आते हैं किः—

"गुरुणो भट्टा जाया सद्दे थुणि अण लिंतिदाणाइं।
दुण्णिवि अमुणि असारा दूसमयम्मि बुड्डन्ति ॥ ३१॥"
(उपदेश सिद्धान्त रत्नमाला।)

अर्थात्—"पञ्चम काल विषै गुरु तो भाट हो गए जो दातारों की स्तुति कर दान लेते हैं। सो दाता और दान लेने वाले दोनों ही जिनमत के रहस्य से अनभिज्ञ हैं, संसार समुद्र में डूबते हैं। भावार्थ—दाता तो अपना भाव पोषने के अर्थ देता है और लेने वाले लोभिष्ट हो दाता में अणछाते गुणों को भाट की तरह गाय २ दान लेते हैं। सो मिथ्यात्व कषाय के पुष्ट होने से दोनों ही संसार में डूबते हैं और पञ्चम काल में कहने का अभिप्राय यह है कि जो इस प्रकार दान लेनेवाले अन्य मत में ब्राह्मण तो पहिले से भी थे, परन्तु अब जिनमत में भी भाट की तरह स्तुति करा कर दान लेने वाले हो गये हैं, सो इस

निकृष्ट काल मे ही हुयेहै।" ऐसी दशा में पाठक समझ सकते है कि निष्पक्ष, निःस्वार्थी गुरुओं अथवा मार्गप्रदर्शकों की कितनी जटिल आवश्यकता है।

दूसरा कारण मनुष्य गुणों का अभाव कितना हानिप्रद है, यह समाज की वर्तमान दशा से ही ज्ञात है। इसके विषय में भी हम पहिले कह चुके हैं। अतएव इसके निवारण का उपाय भी कितनेक अंशो में प्रथम कारण के अभाव की पूर्ति के साथ सम्बन्धित है। क्योंकि जब प्रथम अभावकी पूर्तिहोकर मनुष्यों के जीवन धर्ममय बन जांयगे तो उनकी शारीरिक, मानसिक और चारित्रक उन्नति होना अवश्यभावी है। और इस उन्नति के होने के साथ ही उनमें मनुष्य जैसे गुण स्वतः आजायेंगे। अतएव इस अभाव की पूर्ति का भी उपाय प्रथम के आधीन है यद्यपि निम्न कारणों के उपाय भी इसमें सहकारी होंगे। इसलिये इन दोनों उपायों से लाभ उठाने के लिये आवश्यकहै कि समाज के विद्यमान संयमी पुरुष एकान्त में रहने के स्थान पर कार्यक्षेत्र में आये और प्रत्येक प्रान्त में ग्रामवार पर्यटन करें और स्थानीय जैन जनता की देखभाल के लिये वयप्राप्त अनुभवी चारित्रवान प्रभावशाली व्यक्ति को संयममार्ग का स्वरूप समझाकर उस ओर अग्रसर करें। इस उपाय की पूर्ति में सहज ही में समाज उन्नति के राज्यमार्ग पर आजावेगी और शीघ्र ही उसके ह्रास के कारण दूर हो जावेंगे।

तीसरा कारण जैनजाति के ह्रास में दैवी प्रकोप भी प्रमाणित होता है। अर्थात् उसमें प्लेगादि रोगों के भयावह परिणाम से भी हानि उठानी पड़ रही है। परन्तु यहां भी हम दैव को कोस कर ही चुप नहीं रह सकते। इस दैवी प्रकोप की उत्पत्ति का कारण किसी जीवन नियम का उल्लंघन करना

ही कहा जायगा। वृक्ष जगत पर यदि हम दृष्टि डालें तो हम सहज में इस नियम का अनुमान कर सकते हैं। दो मुकाबले के बाग ले लीजिये। 'सुन्दर वनस्पतियां, नाना प्रकार के अनोखे फूल और पत्तियां और कोमल लतायें लाखों रुपयों के खर्च से दोनों ही बागों में लगाई गई हैं। एक बाग की पत्तियाँ मुर्झा रही हैं लतायें कुम्हलाई जाती हैं, और दूसरे में ठीक वहां वनस्पतियां हरीभरी लहरा रही हैं और लतायें कोठी का कंगूरा छूना चाहती हैं। क्यों? इसलिये कि एक बाग में उनकी रक्षा ठीक तरह पर नहीं की जाती, समय पर जल और खाद आदि नहीं दिया जाता और दूसरी जगह इन सब बातों का अच्छा प्रबन्ध है। पुष्पप्रदर्शिनी और पुष्पपारितोषिक (Flower shows & flower prizes) इस बात को सिद्ध करते हैं कि जितनी अधिक देखभाल वनस्पतियों की होगी वे उतनी ही पुष्ट होंगी और वैसे ही बड़े फूल या फल देंगी।

प्रकृति ने मनुष्यमात्र की उन्नति भी पूर्वोक्त नियम के अधीन रक्खी है। मनुष्य का दीर्घायु या अल्पायु होना, आरोग्य या रोगी होना, बलवान या निर्बल होना भिन्न भिन्न देशों की अच्छी या बुरी आबोहवा पर, अच्छे या बुरे आहार पर और पुण्य या पापमय जीवन व्यतीत करनेपर निर्भर है।' (देखो देशदर्शन पृष्ठ ६२-६३)। अतएव जैन समाज की इस कारण वश ह्रास की अपेक्षा कर कहना होगा कि वह प्राकृतिक नियम के विरुद्ध आचरण करती है। देश की आबोहवा करीब करीब एकसी है परन्तु तो भी वह शहर और देहातोंकी अपेक्षा कुछ भिन्न है। देहातों का जीवन सुखकर हो सकता है। और जैनी देहातों में रहना अब ठीक नहीं समझते, और वे वहां बनिस्बत शहरों के कम ही हैं। जैसे की अगाड़ी ज्ञात होगा।

अतएव वह आबोहवा का ध्यान भी कम रख रहे है। और आहार की भी यही नौवत है। भक्ष्याभक्ष्य का विचार उनमें से उठ ही गया है। इने गिने ही लोग ऐसे हैं जो बाज़ार की भक्ष्य वस्तुओं से परहेज करते हैं। और पदार्थों के गुण दोष का विचार करके उसका भक्षण करते हैं। हमारे पाँच सात घरों में भोजनकी व्यवस्था किंचित है भी, परन्तु वहाँ पर भी पाक-शास्त्रसे अनभिज्ञता होने के कारण सात्विक भोजन का मिलना कठिन हो रहा है। भोजन के चटपटे और सुस्वादु बनाने की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है, फिर चाहे भलेही मसालोंकी भरमार से उस पदार्थ का स्वाभाविक गुण नष्ट हो जावे। इस प्रकार आहार का भी हमारे यहाँ ठीक प्रबन्ध नहीं है। अब जब कि हमारे भोजन की यह दुर्दशा है तब हमारे जीवन किस प्रकार के होंगे यह सहज में अन्दाजा जा सकता है। लोकोक्ति ही इस बात को चरितार्थ कर रही है—जैसा खावे अन्न-वैसा होवे मन। इसलिये कहना होगा हमारे जीवन पापमय है। इस की पुष्टि हमारे अगाड़ी के वर्णन से स्पष्ट हो जावेगी। अतः जब हमारे रहने के स्थान की आबोहवा, शरीर पुष्टि का भोजन और जीवन ही प्राकृतिक नियम के प्रतिकूल हैं तब हमारा प्रतिद्वन्द्वी दैव ही हो जाय तो आश्चर्य क्या है!

प्लेगादि रोगों से जैन जाति की क्षति अधिक नहीं होनी चाहिये थी क्योंकि रोग से बचने के साधन उनको सुगम थे। परन्तु जड़ता के कारण जैसे कि ऊपर दिखला चुके हैं, इस संक्रामक रोग आक्रमण से भी उसकी क्षति में सहायता पहुँची है। इन रोगों में वृद्धों की अपेक्षा युवक और युवतियां अधिक मृत्यु को प्राप्त हुए हैं। दुख यही है कि इन्हींसे सन्तान उत्पन्न होती है जिससे जनसंख्या की वृद्धि

होती है। निदान सौ युवतियों और स्त्रियों की ही मृत्युसंख्या बढ़ी हुई प्राप्त है, जो पहलेसे ही संख्यामें कम हैं। युक्तप्रान्तमें सैकड़े पीछे ४५ पुरुष और ५५ स्त्रियां मृत्यु को प्राप्त हुई हैं। भारतवर्ष के विषय में कहा जाता है जो कि जैनसमाजके लिये भी इसी तरह लागू है कि:—

"The most obvious is the higher rate of female mortality during epidemics The recorded deaths from plague or any such severe epidemic, are more among females than among males and are in the ratio of 5·4 This is easily understable if we remember the life Indian women are forced to lead by our social customs Their household activities are such as to lay them open to infection more readily than the males They nurse the persons suffering from contagious diseases, and they are most liable to the bites of the plague-infected rat-fleas on the malaria-carrying mosquitoes"

(See The Census of India p 56)

भावार्थ– संक्रामक रोगों में स्त्रियों की मृत्यु पुरुषों की अपेक्षा अधिक है अर्थात् ४ पुरुषों में ५ स्त्रियों की मृत्यु हुई है। स्त्रियों की इस अधिक मृत्यु के कारण हमारे सामाजिक बन्धन हैं। उनके गृहस्थ जीवन में संक्रामक रोगों से बचने की बहुत कम रक्षा है, प्रत्युत वे ही ऐसे रोगियों की सेवा सुश्रूषा करती हैं जिससे इस रोग की शिकार बनती हैं।

अतएव इस कारण से भी हमें कुछ कम क्षति प्राप्त नहीं

होती। स्त्रियों को मृत्यु के मुख से बचाने के लिये आवश्यक है कि सामाजिक नियमों में उचित सुधार किया जाय। और इस आशङ्का से बचने के लिये उनमें पुरुषों के साथ चिकित्सा ज्ञान का प्रचार करना चाहिए। जिससे जीवन के स्वास्थ्यवर्द्धक नियमों का पालन हो सके। क्योंकि यह प्रकट है कि 'अनुकूल' शुद्ध सात्विक भोजन से, निर्मल जल और पवित्र वायु सेवन से, स्वच्छ हवादार कमरों में रहने से, बल और पौरुष को हानि न पहुंचाने वाली दिनचर्या से, शारीरिक बल और पराक्रम बढ़ानेवाले व्यायाम (कसरत) से, नेशन या राष्ट्रीयता का क्षय करने वाले दो प्रधान कारणों—घोर दरिद्रता और अत्यन्त अधिक धनाढ्यता—का संपूर्ण विनाश करदेने से, ब्रह्मचर्य्य के पश्चात् योग्य और आरोग्य सन्तानोत्पत्ति से, स्वास्थ्यरक्षा और उत्तम चिकित्साशास्त्र के ज्ञान से, स्त्री और पुरुष की सामाजिक और मानसिक दशा बराबर ऊंची करने से, देश के सुखी होने से और शान्तिमय पवित्रजीवन व्यतीत करते रहने से, मनुष्य चाहे अजर और अमर न हो जाय: पर उसके जन्म और प्राकृतिक मरण के बीच का समय अर्थात् आयु बहुत बढ़ जायगी और बराबर बढ़ती रहेगी।"

(देखो देशदर्शन पृष्ठ ६४)

चौथा कारण निर्धनता या दरिद्रता भी उक्त का सहगामी है। इस के कारण भी विशेष हानि उठानी पड़ती है। क्योंकि 'दरिद्रता से लज्जा उत्पन्न होती है। लज्जायुक्त अपने अधिकार से गिर जाता है। अधिकार से गिरे हुए का अपमान होता है। अपमान और तिरस्कार से दुःख और दुःख से शोक उत्पन्न होता है। शोक से बुद्धि हीन होती है और निर्बुद्धि नाश को प्राप्त होता है। इस प्रकार देखा जाता है कि

दरिद्रता ही सारी आपत्तियों की मूलहै और इससे जन संख्या का नाश होता है। (देखो देशदर्शन पृष्ठ ३८)

किन्तु हमारे कुछ एक मित्र अवश्य ही जैन समाज के सम्बन्ध में निर्धनता वा दरिद्रता का नाम सुन कर चौंक उठेंगे। उन की दृष्टि में जैन जाति सर्व जातियों में धनशाली है। क्योंकि उसकी बाहिरदारी अर्थात् दिखलावे को जितनी बातें हैं वह सब इसी बातको सम्भावना कराती है कि जैनी बड़े धनी हैं। परन्तु अब बात बिलकुल उलटी है। निर्धनता वा दरिद्रता में बुद्धि हीन होजाती है और अपने दोष को-अपमान को-छिपाने के लिए दरिद्र व्यक्ति ढोंग रचता ही है। यही हालत जैन समाज की है। यद्यपि यह अवश्य है कि कतिपय खास व्यक्ति अवश्य ही धनशाली मिलेंगे। परन्तु समग्र जाति को इनके कारण धनशाली नहीं कहा जा सकता। जैनी निर्धनी हैं इस का प्रत्यक्ष प्रमाण उनकी जनसंख्या का ह्रास, उनकी दुर्बलता और उनके पीले मुख हैं। जैनी ही नहीं प्रत्युत सारे भारत-वासी इस सर्व घातक रोग से पीड़ित हैं। इसी निर्धनता के कारण आज इस कृषि प्रधान और पशुधन में गर्व रखने वाले देश में समाज को पुष्टकारी भोजन नही मिलता। जीवन पा-लन के मुख्य पदार्थ घी और दूध का तो अभावसा ही हो रहा है। उस के अभाव में शरीर दुर्बल हैं। और वे शीघ्र ही रोगों के शिकार बन जाते हैं। जिन से धन के अभाव में छुटकारा भी सहसा नहीं मिलता। हां, यह अवश्य मानना पड़ेगा कि हिन्दू और मुसलमानों की अपेक्षा जैनी धनवान अधिक हैं। इसलिए इस कारण से उनको क्षति अधिक होने की संभावना नहीं की जा सकती।

किन्तु जरा गम्भीर विचार करने से विदित हो जाता है

बालक बालिकाओं को शिक्षा में इतना धन नहीं खर्च होता जितना उनके विवाह पर होता है। स्त्रियों के बच्चा होते समय होशियार दाई, सफाई, औषधि, अच्छे आहार और जापे के पीछे और बालक के उत्तम पालन के लिए इतना खर्च नहीं करते जितना "साद में", कड़ा हसली घड़वाने में, गाना बजाना करवाने में और जाति में मिठाई बाँटने में होता है। बीमार की टहल, औषधि की अपेक्षा उसकी मृत्यु पर मोसर करने में पचास गुना ज्यादह खर्च किया जाता है। धर्म प्रचार, आचरणसुधार ज्ञानदान, स्कूल, पाठशाला, कन्याशाला, छात्रालय, छात्रवृत्ति, और अच्छी पुस्तकों के प्रचार में इतना खर्च नहीं होता जितना वेश्या नृत्य में, आतिशबाज़ी में, जल्से उत्सवों में होता है।

(जैन संसार)

अतएव इन अनावश्यक अयोग्य कार्यों में व्यर्थ व्यय किए जानेसे दिनपर दिन धन घटता चला आरहा है और घटताही रहा तो बिलकुल दरिद्री बना देगा और नष्ट कर देगा। इसलिए इस प्रकार का आन्दोलन उठाना चाहिए जिससे बच्चे २ को इस दशा का परिचय हो जावे। और प्रत्येक पचायत में इस प्रकार के नियम बन जाना चाहिये जिससे उपरोक्त प्रकार के व्यर्थ व्यय बन्द होकर उचित प्रकार से धन खर्च किया जासके जिससे समाज का हित हो। यह ब्याह शादियों, ज्योनारों आदि की तरह तरह की फिजूल खर्चियां एक दम उठा देना चाहिये। इस निर्धनता से बचकर हमें अपने पुरखों की सुख समृद्धशाली दशा प्राप्त करने के लिए व्यापार में जी जान से लग जाना चाहिए। मामूली दूकानदारी-दलाली-को ही व्यापार नहीं समझना चाहिए। प्रत्युत नये २ व्यापारों की ओर दृष्टि दौड़ाना चाहिए। नये ढंग के व्यापार पुराने ढंग के

व्यापारों को मिटाते जारहे है। इसके लिए देश विदेशों में घूम कर और अनुभव प्राप्तकरके नए व्यापारोंको चलाना चाहिये। इस प्रकार की उद्योग सस्थाएँ धनियों को खोलना चाहिये जिनमें समाज के निरुद्योगी युवकों को शिल्प, व्यापार, कृषि आदि कार्य सिखाए जॉय। और उनके जीवन निर्वाह सुगम बन जांय।

पांचवे स्वास्थ्य और उच्चशिक्षा की ओर से उदासीनता में मुख्य सहायक उपरोक्त कारण हैं। निर्धनता के कारण, इनकी ओर ध्यानही नहीं दिया जाता। स्वास्थ्य कितना गिरा हुआ है यह हमारा ह्रास ही कह रहा है। औसत आयु केवल पच्चीस वर्ष की है। इसमें मुख्य कारण जैनियोंमें उचित श्रम न करने का है। वे दूकानदारी करते हैं और सुबह से शाम तक गद्दी तकिये लगाए बैठे रहते हैं। परिश्रम कुछ करते नहीं। इस कारण सामान्य भोजन भी हजम होता नहीं। यही दशा स्त्रियों की है। वह गृहस्थी के कार्यों से मुँह चुराती हैं। अतएव स्वास्थ्य वर्द्धन के लिये आवश्यक है कि उचित व्यायाम की व्यवस्था की जावे। पुरुषों के लिए व्यायाम शालायें खोली जावें। जिन में उनको- शरीर रक्षा की विविध देशी कलायें सिखाई जावें। और वे बलवान बन सकें। स्त्रियों के लिये भी पीसना कूटना आदि गृहस्थी के कार्यों के अतिरिक्त प्रति दिन स्वच्छ वायु सेवन का प्रबन्ध होना चाहिये।

उच्च शिक्षा की भी यही दशा है। निर्धनता में वह प्राप्त नहीं है। 'व्यापारी जाति होने पर भी १०० पुरुषों में से ५० ही लिख पढ़ सकते हैं। यूरुप के देशों में तथा जापान अमेरिका में ८० से ८८ फी सैकड़ा स्त्री पुरुष लिखे पढ़े हैं। यहां पर १०० स्त्रियों में केवल दो ही पढ़ी हुई हैं। और वे

भी केवल 'चिट्ठी पत्री लिखने तक'। पुरुषों में भी ऐसे बहुत कम हैं जो जीवन को आदर्श बनानेवाले, उच्च चरित्र बनाने वाले और जीवन सफल बनानेवाले साहित्य को पढ़ सके हों। यहां मात्र थोड़ा हिन्दी का ज्ञान और ढांचा पहाड़े आदि सिखादिए कि शिक्षा खतम होगई। बहुत हुआ तो भक्तामर पाठ व पूजादि सिखा दी। नैतिक शिक्षा अथवा उच्च लौकिक शिक्षा युवकों को दीही नहीं जाती। युवकों को वह शास्त्र तथा साहित्य नहीं पढ़ाया जाता जिससे वह पुरुषार्थी हों, जिससे वे तनबल, वचनबल, कायबल उपार्जन कर जातिसेवा, देश सेवा और विश्वसेवा के योग्य बनें। जिससे वे धर्मप्रति, जाति प्रति, देशप्रति, संसार प्रति अपना कर्तव्य पहिचानें अथवा जिससे उनके जीवन "जैन" जीवन बनें। हां बाल्यावस्था और युवावस्था में रंडियों का नाच दिखा, गाली सुना, नीच पुरुषों की संगति में छोड़ उनके जीवन निरर्थक, विषयी और विलासप्रिय तो अवश्य बनादिये जाते हैं। और इसका परिणाम कहीं वेश्यागमन, कहीं परस्त्री गमन, कहीं मदिरापान, कहीं स्वार्थीजीवन और कहीं व्यापार में झूंठ इत्यादि होता है।

(जैन संसार)

जैनसमाज में इनेगिने विद्यालय और हाईस्कूल उच्च आदर्श शिक्षा प्रदान करने के लिये चालू भी किएगए हैं, किन्तु उनसे यथेष्ट लाभ नहीं होता। इसमें मुख्य कारण उनकी शिक्षा प्रणाली है। दोनों स्थानों से निकले हुए विद्यार्थी को भृत्यता स्वीकार करनी पड़ती है। अतएव उनमें शिक्षाक्रम का सुधार होना आवश्यक है, जिससे योग्य स्वावलम्बी विद्वान उत्पन्न हो सकें। इनमें जो समाज के धन से शिक्षा पावें वह कम से

कम दो वर्ष समाज की सेवा अवैतनिक रूप में करें जिससे समाज में शिक्षाका प्रचार हो। इस क्रियाद्वारा भी पूर्णलाभ प्राप्त नहीं होगा। इस क्रमसे मात्र कुछ विद्वान उत्पन्न हो सकेंगे और वह समाज के ग्रामों में शिक्षा प्रचारही करसकेंगे। इसलिए प्रत्येक शिक्षाके केन्द्र पर जैनबोर्डिङ्ग खोलना लाजमी है। उनमें धर्मशिक्षाका प्रबन्ध होना चाहिये। तथा स्कालर्शिप योग्य छात्रोंको दीजाय इस बात का प्रबन्ध होना चाहिए। तथापि इनके साथही एक भारतीय जैनविश्वविद्यालय की स्थापना की आयोजना होनी चाहिये। इस विश्वविद्यालय के दो विभाग रहे — एक में लौकिक उच्चकोटिकी शिक्षा का प्रबन्ध हो तथा दूसरे में धार्मिक और संस्कृतादिकी संयोजना हो। अथच इस ही के अन्तर्गत एक जैनशिक्षा समिति हो जो समग्र भारत के जैनियों में प्रारम्भिक और उच्च शिक्षा की व्यवस्था को बालक और बालिकाओं को समान शिक्षा का प्रबन्ध करना इसके आधीन हो। इस तरहका प्रबन्ध होनेपर ही समाज में योग्य विद्वान उत्पन्न हो सकेंगे और शिक्षाका प्रचार हो सकेगा।

छठे कारण बाल्य विवाह के दोषों से अब सभी करीब २ परिचित होगये हैं। परन्तु तोभी दुःख है कि हम इस प्रथा को नहीं छोड़ते। प्राचीनकाल में हमारे यहां प्रौढ़ अवस्था में अर्थात् पूर्णयुवा होने पर विवाह किया जाता था। परन्तु मुसलमानी समय से यह प्रथा उठगई। उनके डरके कारण छोटी उमर में शादी की जानेलगी और स्त्रियां घरों के अन्दर मूँदकर रक्खी जाने लगीं। इससे बड़ा अनर्थ हुआ। शरीर शक्ति क्षीण होगई। शास्त्रकार ने विवाह का समय पुरुष का २० वर्ष की अवस्था में और स्त्री का १६ वर्ष की अवस्था में

बतलाया है जैसे कि जैनाचार्य वाग्भट के निम्न श्लोक से प्रगट है :-

"पूर्ण षोडशवर्षास्त्री पूर्ण विंशेन संगता।
शुद्धे गर्भाशये मार्गे रक्ते शुक्रेऽनिले हृदि ॥
वीर्यवन्तं सुतं सूते ततो न्यूनाद्वयोः पुनः।
रोग्यल्पायुरधन्यो वा गर्भो भवति नैव वा ॥"

इसमें आचार्य साफतौरसे बतलाते हैं कि यदि कम उमर में विवाह किया जायगा तो अल्पायुकी संतान होगी अथवा होगी ही नहीं। और वस्तुतः यही दशा आज होरही है। बाल्यविवाह करने का मुख्य कारण आज विवाहके उद्देश्य से अजानकारी है। आदिपुराण में विवाह का उद्देश्य संतान उत्पन्न करने और उसकी रक्षा करने में यत्न करना बतलाया है। विवाह के द्वारा प्रजा का सिलसिला बन्द न होकर धर्मका सिलसिला बराबर जारी रहता है। इससे विवाह का उद्देश्य धार्मिक संतान उत्पन्न करना पाया जाता है। परन्तु यहां इस बात का ध्यान नहीं दिया जाता और मात्र वासनापूर्ति के लिए अल्पायु में विवाह किए जाते हैं जिसके दुष्परिणाम के नमूने यह हैं :-

(१) बचपन में विवाह करने से बालविधवायें बहुत हो जाती हैं। बचपन में उनके मां बाप कुलधर्म वा नीति का बोध नहीं कराते हैं, इसलिए वे अपने मनको मारने में असमर्थ हो नरपिशाचों के बहकाने पर अपना धर्म छोड़ देती हैं और युवावस्था में कुकर्म करने में लग जाती हैं। फिर अपने कुकर्म छिपाने के लिए उन्हें भ्रूण-हत्या करनी पड़ती है। लोग और सरकार सबही उनको बुरी निगाह से देखते हैं। इससे माता

पिता बदनाम होते हैं। यह बात केवल बालिकाओं के लिए ही नहीं है: बालकों की भी छुटपन से आदतें बिगड़ जाती हैं और वे भी कुकर्म कर अल्पायु में ही मृत्यु के ग्रास हो जाते हैं और इन नन्हीं विधवाओं को बिलखने और पापाचार करने को छोड़ जाते हैं, जिनसे माता पिता बदनाम होते हैं। किन्तु इन में दोष उन्हीं माता पिता का है जो छोटी ही उमर में उनका विवाह करदेते हैं। बालक बालिकाओं को सुशिक्षा नहीं देते, उन्हें अपने भले बुरे सोचने की योग्यता प्राप्त नहीं करने देते, और उनके शरीर हृष्ट पुष्ट नहीं हो पाते कि विषय वासना के शिकन्जे में उन्हें जकड़ देते हैं। बड़ी उमर तक अविवाहित रखने में वे अपनी नामूसी समझते हैं। परन्तु अपनी पुत्र पुत्रियों को व्यभिचारी सुनकर वह नामूसी नहीं समझते। इसी दुष्ट प्रथा के कारण आज जैनियों में १५ वर्ष से कम उम्र की विधवाएं १२५६ से शायद कुछ अधिक ही हैं। इतनी संख्या तो उनकी सन् १९११ में थी और तब कुल जैन विधवाएं १५३२६७ थीं! इन विधवाओं की बढ़ोतरी का कारण यह बाल विवाह ही है। क्योंकि इसके कारण अधिकांश कन्यायें १५ वर्ष में ही विधवा होजाती हैं।

The chief of these is the system of early marriage and the consequent system of widowhood. An appreciable percentage of girls lose their husbands in India before they are even 15 years of age, and since widow re-marriage is prohibited in almost all sections of the Hindus, this large number of women do

not contribute to the increase of population.

(The Census of India p 12)

(२) बाल्यावस्था में विवाह होजाने से बालक बालिकाओं की शिक्षा भी पूर्ण नहीं होने पाती। और वे जीवनोपयोगी अत्यावश्यक ज्ञान प्राप्त करने से वंचित रहजाते हैं। और इस ज्ञान के अभाव में उन के जीवन उन्नत नहीं हो पाते । वे बहुधा दुश्चरित्र होजाते हैं। प्राचीन काल में बालक और बालिकायें प्राय. गुरुओं के घरों पर शिक्षाप्राप्ति के लिए भेज दिए जाते थे और पूर्ण वय प्राप्त करके सर्व प्रकार की शिक्षा से भूषित हो कर जब वे निकलते थे तब उनके विवाह होते थे । इसलिए उत्तम जोड़ा बनाने के लिए बड़ी उमर में शादी करना चाहिए। और तबतक बालक बालिकाओं को उचित शिक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए। उनको ऐसे खेल तमाशे भी नहीं देखने देने चाहियें जिनसे कामवासना उत्तेजित हो।

(३) ऊपर हम देखचुके हैं कि 'विवाह' का एक प्रधान उद्देश्य उपयुक्त संतान उत्पन्न करना है। अतएव अल्प वय में अर्थात् उस समय में जबतक कि देह और बुद्धि परिपक्व नहीं होती है, विवाह करना उचित नहीं है। कारण, जबतक जनक-जननी के देह और मनकी पूर्णता न होगी, तबतक सन्तान सबलशरीर और प्रबलमना न हो सकेगी। और स्वयं जनक जननी के जीवन दुर्बल शक्तिहीन, निस्तेज, रोगी और सुखहीन होजाते हैं। साथही उनकी उमर कम होजाती है। उनकी सन्तान

निकम्मी होती है। यद्यपि बहुतायत से वह होती ही नहीं और होती भी है तो उनका जीवन कठिन होजाता है। यही कारण है कि बच्चे बहुत मरते हैं। "अल्पायु का गर्भ माता पिता और स्वयं उस पेट की सन्तान तीनों के लिए अत्यन्त हानिकारक होता है। पचीस बाल गर्भवती स्त्रियों की जांच की गई जिस से मालूम हुआ कि पांच लड़कियों का गर्भ गिरगया, तीन बच्चा जनने के समय मरगईं, ६ को जनने के समय अत्यन्त कष्ट हुआ और उनके पेट से बच्चे औज़ारों के जरिये निकाले गए, पांच को बच्चा जनने के बाद पुराना मूत्ररोग होगया, दो बच्चा पैदाहोने पर प्रसूती रोगमें पड़कर और अत्यन्त निर्बल होकर मरगईं, ३ दूसरी बार बच्चाजनने पर मरगईं, २ तीसरी बार बच्चा जनते समय मरगईं और १२ अत्यन्त कष्ट उठाकर मरने से बचगईं, पर उनकी तन्दुरुस्ती जन्म भर के लिये बिगड़ गई। अर्थात् कुल २५ में से १० तो मरगईं और १२ जन्म रोगिणी होगईं, केवल ३ लड़कियां अच्छी रहीं।" (देखो देशदर्शन पृष्ठ १२६-१३०)। इस बालविवाह के कारण स्त्रियां किस ज्यादती से मृत्युको प्राप्त होती हैं यह इससे साफ प्रगट है। "The Census of India" नामक पुस्तक में स्त्रियों के अभाव के विषय में लिखा है कि " इस बालविवाह के और इसहेतु छोटी उमर में गर्भ धारण करने के कारण स्त्रियों की संख्या का कितना ह्रास हुआ है यह निम्न कोष्ठक से ही अनुभव किया जा सका है :—

१००० पुरुषोंकी मृत्युकी समानता में स्त्रियोंकी अन्दाजन मृत्यु संख्या

प्रान्त	०-१५ वर्ष	१५-२०	२०-३०	सर्वआयु
वङ्गाल	८१३	१२१५	११७१	८९७
विहार	८२४	८८९	१०१३	९४९
वम्बई	९८०	१०२५	१०६१	९२४
वर्मा	८७८	८५९	८६५	८५३
मध्यप्रान्त	८९३	१०५३	११४७	९१३
मद्रास	९४६	१२३४	१२३१	९६०
पञ्जाव	१०३२	९६६	१०५५	९६८
आगरा ओर अवध	९७०	१०५६	११०५	९६८

इन संख्याओं से वह प्रभाव प्रकट है जो हमारे सामाजिक रिवाज के कारण स्त्रियों की घटोतरी पर पड़ता है। यह घटोतरी १५ और ३० वर्ष की उमर में अधिक है। और यह वह समय है जब स्त्रियों की देख भाल खूब होती है। ३० वर्ष के उपरान्त सर्व उमरों की मृत्यु संख्या घट जाती है। .... इस वाल विवाह के परिणाम से जो एक भयावह दृष्य दृष्टिगोचर होता है वह यह जानने में है कि स्त्रियों की संख्या पहिले ही पुरुषों की अपेक्षा अधिक नहीं है। इस प्रकार जब पञ्जाव में पहिले ही १०० पुरुषों में ८२ स्त्रियें हैं तब वहां २० और ३० वर्ष की उमर में मृत्यु ९९८ पुरुषों में १०५५ स्त्रियों की होती है। इस तरह हिसाब लगाने से वाल विवाह के कारण मृत्युसंख्या

मद्रास और बङ्गाल में पञ्जाब और युक्तप्रान्त की अपेक्षा अधिक है। इस प्रकार कम उम्र में शादी करने से भारत का हित नहीं है। इसलिए जैन समाज भी इस कुप्रथा से लाभ नहीं उठा सकती। बाल विवाह के कारण जो हानि बच्चों को होती है उसके विषयमें हम पहिलेही कह चुके हैं। उक्त पुस्तक में भी बच्चों की अधिक मृत्यु का कारण उनकी माताओं की अल्पायु बतलाई है और कहा है कि १९ वर्ष से कम उम्र की स्त्री के जो बच्चा उत्पन्न होता है वह बचपन ही में बहुधा मर जाता है और यह खेद जनक घटना उन माताओं की जनन शक्तिपर भी हारिज होती है। फलतः वह ३५ या ४० वर्ष में ही वृद्धा हो जाती है"। इस बालविवाहके कारण भारत के भावी नवयुवक भी पेशाब, पेचिश या बुखार के रोग से दुखी रहते हैं। यहाँ पेशाब की बीमारियों से सारी दुनियों से अधिक लोग मरते हैं। फ़ी सैकड़ा १५ नवयुवक इन रोगों के ग्रास बनते हैं। (देश दर्शन पृष्ठ १३०)। अतएव अत्यन्त प्रकट है कि इस बाल विवाह के कारण जैनजाति ही नहीं प्रत्युत भारत ही ग्रस्त हुआ जाता है। 'यदि कन्याओं का विवाह १५ वर्ष से कम की आयु में न होता तो जैनियों में दस हजार विधवायें न होतीं। वे सधवा होकर कम से कम चालीस हजार मनुष्य उत्पन्न करतीं, जिससे जैनियों का ह्रास बहुत कुछ रुक जाता'।

(जैन हितैषी भाग १३ पृष्ठ ५३८)

इसलिए इसका रोकना परमावश्यक है। साधारण जनता में इसके दुष्परिणाम का परिचय कराने के लिए छोटे २ हैंडबिल और ट्रैक्ट बांटना चाहिये। उपदेशकों और समाचार पत्रों द्वारा इसके विरुद्ध लोकमत खड़ा कर देना चाहिए। फिर

प्रत्येक पञ्चायतों में ऐसा नियम करा देना चाहिए कि जब तक बालक और बालिका प्रौढ़ न हों तबतक उन्हें किसी अच्छे गुरु के आधीन रखकर विद्याध्ययन करावें। प्रौढ होने और शिक्षा पाने बाद उनका विवाह योग्य पुरुषों से किया जाय। फिर द्विरागमन (गौना) करने की आवश्यकता नहीं। इसलिये इस प्रथा को हटादेना होगा।

सातवें और आठवें कारण वृद्ध विवाह और अनमेल विवाह एक ही कोटि में आजाते हैं। वृद्ध विवाह भी अनमेल विवाह ही है। यहां ६० और ८ की मिसाल है तो दूसरी ओर ८ और १२ अथवा १६ और ८ का गॅंठजोड़ा है। इन अनमेल सम्बन्धों के कारण मनुष्य जीवन सुखमय नहीं बीत सकता। इस कारण विवाह के उद्देश्य सिद्धि के लिए प्रौढ़ावस्था के योग्य बालक बालिकाओं का सम्बन्ध करना चाहिए। यद्यपि हमने वृद्ध विवाह का समावेश अनमेल विवाह में कर दिया है, परन्तु वृद्ध विवाह से अधिक हानि होती है। यह विदित ही है कि "जैन समाज में कन्याओं की संख्या बहुत ही कम है। इससे हमारे नव युवकों को यों ही कुंवारा रहना पड़ता है। उस पर भी बूढे लोग अपनी कई २ शादियां करके और भी उनका हक मारदेते हैं। जो कन्या किसी युवक से शादी करके सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करती, और अनेक पुत्र व कन्याओं की माता होती, वही एक बूढे खूसट के पञ्जे में फंसकर दुःखों के पाले पड़ती है, सन्तान हीन या रोगी सन्तान की माता होती है और शीघ्र ही विधवा बनकर दुराचारों की वृद्धि करती है। इसलिए वृद्ध विवाह की कुप्रथा को शीघ्र ही बन्द करना चाहिए। इसके लिए पञ्चायतों को यत्न करना

चाहिए। पञ्चायतों की शक्ति को बढ़ाना हम लोगों के हाथमें है" । (जैनहितैषी भाग १३ पृष्ठ ४४८) । उनकेद्वारा इस प्रकारके नियम बनालेना चाहिये कि ३५ वर्ष की अवस्था के उपरान्त वाले पुरुषों के और रुपए देकर विवाह करनेवाले के विवाह में कोई भी सम्मिलित नहीं होगा। और इसका पालन जब पञ्चायत में सब करने लगेंगे तो फिर यह दुष्प्रथा शीघ्र ही मिट जायगी।

सन् १९२१ की सरकारी मनुष्य संख्या रिपोर्ट के आधार पर जो उद्गार एक नव युवक ने पञ्जाब और देहली प्रान्तके सम्बन्ध में 'वीर' में प्रकट किए हैं उनसे जाना जाता है कि उस प्रान्त के जैनियों में प्रति सहस्र पुरुषों के पीछे कुल ८५३ स्त्रियें है। जिनमें विधवायें भी सम्मिलित हैं। इस प्रान्त की विधवा बहिनों की संख्या का दिग्दर्शन करने से बूढ़े बाबाओं की करतूतों और सामाजिक अधःपतन का खासा अन्दाजा हो जाता है। १५ से १९ वर्षकी आयु की विधवायें प्रतिशत निम्न प्रकार हैं :-

जैन ३।२ (सवातीन प्रतिशत से अधिक); हिन्दू ३। (तीन प्रतिशत), मुसलमान २।९ (तीन प्रतिशत से कम), सिक्ख १।७ (पौने दो प्रतिशत से कम)।

वहीं एक से लेकर ३९ वर्ष की विधवायें प्रति सहस्र इस प्रकार थीं:- सन् १९०१ में जैन ५९; हिन्दू ४७, मुसलमान ३०; सन्-१९२१ में जैन ७९, हिन्दू ४९ और मुसलमान २९। जो हाल पञ्जाब का है वही शेष प्रान्तोंका है। इसलिए सामाजिक सुधार के लिए शीघ्रतम तैयार होजाइये।

नवाँ कारण अतीव घृणित शब्द व्यभिचार है। महा संयमी शीलव्रती भगवान महावीर की सन्तान आज व्यभिचारी है। यह कितनी नीचता की बात है। इस कलङ्क को लिए हुए हम कभी भी उनकी सन्तान कहलानेके अधिकारी नहीं हैं। भारत की अन्य समाजों की भांति जैन समाज में भी व्यभिचार का बेशुमार प्रचार हो रहा है। "ज्ञात होता है कि शीलव्रत इस समाज से विदा ले चुका है और जैन धर्म का प्रभाव इसके हृदय से बिलकुल उठ गया है। यह समाज केवल ऊपर से जैन धर्म का श्रद्धा पहिने हुए है, जिसके भीतर इसका हृदय छिपा हुआ है। इसकी भीतरी हालत बड़ी ही गन्दी है। इस व्यभिचार के रोग में यहां के युवा ही ग्रसित नहीं हैं, बालक और बूढ़े भी इसके पञ्जे से बाहर नहीं हैं। यहाँ के बालक ७-८ वर्ष के होते ही अश्लील शब्दों को सुन सुन कर उनके उच्चारण करने में पटु हो जाते हैं। पहिले तो वे उनका भाव समझे बिना ही उच्चारण करते रहते हैं, पीछे बारह तेरहवर्ष के लगभग पहुंचने पर उन अश्लील शब्दों के द्वारा उत्पन्न हुए भावों को प्रयोग में लाने की चेष्टा करने लग जाते हैं। उनकी यह चेष्टा अनङ्गक्रीडा, हस्त मैथुन आदि दुष्टदोषों के रूप में प्रकट होती है। व्यभिचार की यह पहिली सीढ़ी है। बाल्यावस्था में ये भाव अनङ्ग क्रीड़ा आदि के रूप में और युवावस्था में परस्त्री सेवन, वेश्यागमन आदि के रूप में प्रकट होते है। जहां ये भाव हृदय में अङ्कित हो पाए फिर निकाले नहीं निकलते। ये उन्हें सदाके लिए व्यभिचारी बना देते हैं। स्त्रियां भी जब अपने पुरुषों को परस्त्रीगामी वा वेश्यागामी बना हुआ देखती हैं तो ऐसी अपने पातिव्रत्यसे शिथिल होने लगती हैं और अन्त में दुराचारिणी बन जाती हैं" (जैन हितैषी भाग १२ पृष्ठ ४४८)।

इनके साथ ही अन्य कारण व्यभिचार वृद्धि के उक्त अनमेल विवाह और प्रेचर्पन की दुस्संगति के अतिरिक्त युवती विधवाओं और युवाकुमारों की संख्या है। यह मानी हुई बात है कि काम जिस समय मनुष्य को सताता है उस समय वह उस को अंधा कर देता है। आजकल की सोसाइटी का वातावरण ऐसा काम और वासना वर्धक हो रहा है कि यह अभागे मनुष्य काम की कुटिल चाल से बच नहीं पाते। इसी का परिणाम है कि नित्यप्रति भ्रूणहत्याओं के समाचार सुनने में आते हैं। नीच जातियों से 'सत्सङ्ग' करने पर बहुतेरे हमारे युवा भाई दण्डित किए जाते हैं। यद्यपि उसी घृणित कार्य को करने वाले जाति के मुखिया और सत्तावान मनुष्य निर्दोष बने बैठे रहते हैं। वह हजार पाप करते हैं तो भी धर्मात्मा बने रहते हैं और बेचारे गरीब युवक उनकी मायाचारी में तड़पते हैं, दण्डित होते हैं। यह व्यभिचार की मात्रा ग्रामों की अपेक्षा शहरों में अधिक है। और इसकी कृपा से भी हमारी संख्या घटी है, क्योंकि यह प्रगट है कि "व्यभिचारी स्त्री पुरुषों के एक तो सन्तान ही नहीं होती और यदि होती है तो निर्बल, रोगी और अल्पायु होती है। व्यभिचारी पुरुष स्वयं भी निर्बल, निस्तेज, साहसहीन, रोगी और अल्पायु होजाते हैं। मूत्ररोग तो उन्हें घेरेही रहते हैं। स्त्रियों की भी यही दशा होती है। इस बढ़ेहुए व्यभिचार को रोकने की ओर भी शीघ्र ध्यान देना चाहिए। बच्चों के चरित्र पर छुटपन से ही बल्कि उन के गर्भमें आने के समय से ही दृष्टि रखनी चाहिए। बच्चे जब माता के गर्भ में आते हैं तभी से उनपर माता के बुरे भले विचारों का प्रभाव पड़ता है। यदि माता के विचार अच्छे होंगे तो बच्चे उन्हें अपनी प्रकृति बनाकर जन्म लेंगे।

इसके बाद उनपर अच्छे संस्कार डाले जायंगे, उनके कानों में सदैव अच्छे विचार पड़ते रहेंगे, उनकी दृष्टिपथ में सदैव अच्छे कार्य पड़ने रहेंगे, और वे अच्छे आदर्शों की ओर झुकाए जावेंगे तो उनके सदाचारी होने में कोई सन्देह नहीं। आगे उन्हें विद्याध्ययन कराया जाय, नैतिक शिक्षा दी जाय और कर्त्तव्य शील बनाया जाय। तो उनका जीवन बड़ी उत्तमता से व्यतीत होगा।" (जैनहितैषी भाग १२ पृष्ठ ४४६)। रहे विद्यमान व्यभिचारी पुरुष, उनमें भी सदज्ञान का प्रचार किया जाय। विधवाओं को बुरी निगाह से न देखा जाय। उन्हें घरमें मूंद कर न रक्खा जाय। बल्कि केन्द्रस्थ स्थानों में विधवाश्रम खोले जावें, और उनमें उनको किसी विदुषी महिला के आधीन रक्खा जाय। इस बात को कार्यरूप में परिणत देखने के लिये सर्व साधारण में इस का महत्व प्रकट किया जाय। और समाज के गण्यमान्य सज्जन सबसे पहिले अपने यहां की विधवाओं को विधवाश्रमों में भेजें। इस काम से जनसाधारण पर बड़ा प्रभाव पड़ेगा और विधवाओं की दशा सुधर जावेगी। वे अपने जीवनलक्ष्य को ज्ञान नेत्रों से देख सकेंगी और व्यभिचार से बच जावेंगी। रहे कुमारे युवक, उनमें सदुपदेश से कार्य लिया जाय। परन्तु उससे इच्छित फल कम होगा। वे निज समाज में नहीं तो अन्यत्र करते ही हैं। इसलिये उनके विवाहों का प्रबन्ध हो जाना चाहिये। यह किस तरह हो सकते हैं इसका विचार

हम अगाड़ी करेंगे।

दसवां कारण पुरुषों का अविवाहित रह जाना और कन्याओं की कमी है। जैनसमाज में पुरुषों का विवाह २५ वर्ष से कम की ही उम्र में होजाता है; अतएव २५ वर्ष से अधिक उम्र के कुंवारे पुरुष वे ही होते हैं जिनके व्याहे जाने की वहुत ही कम आशा होती है। इन अविवाहित पुरुषों की औसत प्रति सैकड़ा १८.५ पड़ती है। लग भग यही औसत २५ वर्ष से कम उम्र के पुरुषों में भी अविवाहितो की होगी। २५ वर्ष से कम उम्र के पुरुषों की संख्या २१७०० है। अतः इनमें भी प्रतिशत १८.५ के हिसावसे कोई चार हजार पुरुष अविवाहित रह जायेंगे। इसतरह कुल युक्तप्रान्त के ४०८९५ पुरुषोंमे से ७५०० पुरुष ऐसे हैं, जिनका विवाह नहीं हुआ और न होने की आशा है। ये वे पुरुष नहीं हैं जिन्होने ब्रह्मचर्यव्रत धारण करके अविवाहित रहना स्वीकार किया है। किन्तु ये वे हैं, जिनके विवाह हो नहीं सकते। इस तरह जैन समाजके पुरुषों का पांचवां हिस्सा अविवाहित रह जाता है। यदि इनका विवाह हो गया होता तो इनके सन्तान उत्पन्न होती.. और कुछ वृद्धि ही होती"।

(जैनहितैषी भाग १३ पृष्ट ४४६)

जैनसमाजके एक पंचमांश पुरुषों के अविवाहित रहने के नीचे लिखे कारण हैं :-

१-स्त्रियों की कमी।

भारतवर्ष के विविध प्रान्तों में १००० पुरुषों की समानता में इस प्रकार स्त्रियां थीं :—

प्रान्त	सन् १९११	१९०१	१८९१	१८८१
बंङ्गाल ...	९४५	९६०	९७३	९९४
विहार. . .	१०४३	१०४७	१०४०	१०२४
बम्बई..	९३३	९४५	९३८	९३८
बर्मा....	९५९	९६२	९६२	८७७
मध्यप्रान्त......	१००८	१०१९	९८५	९७२
मद्रास......	१०३२	१०२९	१०२३	१०२१
पंजाब...	८१७	८५४	८५०	८४४
संयुक्तप्रान्त. .	९१५	९३७	९३०	९२५
ब्रिटिशइन्डिया ..	९५४	९६३	९५८	९५४

इससे ज्ञात होता है कि सन् १८८१ की गणना में १००० पुरुषों की समानता में ९५४ स्त्रियां थी और इसके वादके २० वर्षों में वही बढ़कर ९६३ हो गई । परन्तु अब सन् १९११ मे वह फिर उसी सन् १८८१ वाली संख्या पर पहुंच गई है । और सन् १९२१ की गणना में और भी घटी होगी क्यों कि जो कारण उसके ह्रासके सन् १९११ में थे, वह घटे नही हैं। इस कोष्टक में एक खास बात ध्यानदेने की यह है कि विहार, वर्मा, मध्यप्रान्त और मद्रास प्रान्तों की स्त्रियोंकी संख्या वढ़ीहीं है। इसका कारण सहज में समझ में आ जाता है। इन प्रान्तों

में वाल विवाह आदि कुरीतियों का प्रचार कम है और स्त्रियों का आदर यथेष्ठ है। प्राचीन काल की भांति वे पर्दे से बरी हैं और शिक्षा से भूषित हैं। उनमें प्राचीन सभ्यता की झलक है। इसी कारण उनकी संख्या अन्य प्रान्तों की अपेक्षा बढ़ी हुई है। इसी हिसाब से इन प्रान्तों के निवासी जैनियों की संख्या समझना चाहिए। वस्तुतः मद्रास प्रान्त की जैन समाज में अधिकतर प्राचीन रीति रिवाज अब भी मिल रहे हैं परन्तु उनमें निर्धनता उत्तर प्रान्त की अपेक्षा अधिक है। दूसरी बात विचारणीय यह है कि भारत में १,००० पुरुषों में पांच वर्ष की उमर की स्त्रियां १,०३८ हैं। इससे भी प्रमाणित होता है कि पांच वर्ष के उपरान्त ही ऐसे कारण स्त्रियों के जीवन में उपस्थित होते हैं जो उनकी घटी करदेते हैं। यह कारण क्या है? मनुष्यगणना की रिपोर्ट में लिखा है कि पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की अधिक मृत्यु के कारण उनसे बुरा बर्ताव करना, अधिक काम लेना, उनका अनादर, उन में स्वास्थ्य-नाशक पर्दे का होना, उनका बालपन में विवाह होना और बचपन में ही गर्भवती होजाना आदि हैं। इन्हीं का दिग्दर्शन हम ऊपर करा चुके हैं। और निम्न कोष्ठक से भी इसी बात की पुष्टि होती है जिस से प्रकट है कि उक्त कारणों वश बीस वर्ष की स्त्रियों की अधिक मृत्यु होती है जिसके कारण इस उम्र के पश्चात् की सधवाओं की अपेक्षा विधवाओं की संख्या अधिक है:—

१० से १४ वर्ष तक की १००० स्त्रीआदि में २८ विधवाएं हैं।
१५ से १९ „ „ „ „ „ „ ६६ „ „
२० से ३९ „ „ „ „ „ „ २५७ „ „
४० से ५९ „ „ „ „ „ „ ५७१ „ „
६० से ऊपर „ „ „ „ „ „ ७४६ „ „

अतएव कन्याओं की कमी को रोकने के लिये बाल विवाह परदा आदि कुरीतियों को रोक कर प्राचीन रीतियों का प्रचार स्त्री समाज में करना चाहिये। इस समय जैन समाज में पुरुषों से स्त्रियां ४०००० कम हैं और शेष स्त्रियों में डेढ़ लाख विधवायें हैं।

२-पुरुषों का बार बार विवाह करना भी अधिक पुरुषों के अविवाहित रहने का कारण है। एक तो पहिले ही स्त्रियां कम हैं। उस पर एक २ पुरुष कई २ विवाह करके इन स्त्रियों के 'अकाल' को और भी अधिक बढ़ा देता है। जिससे अधिकांश पुरुष कुंवारे रहते हैं और व्यभिचार की वृद्धि करते हैं। सरकारी रिपोर्ट में यह अच्छी तरह से दिखा दिया गया है कि यहां स्त्रियां ही अधिक मरती हैं। अतएव विधवाओं की अपेक्षा रंडुओं की कमी का कारण यही है कि रंडुवे दुबारा शादी करलेते हैं और विवाहितों में गिन लिए जाते हैं। वृद्ध विवाह, कन्याविक्रय के साथ ही धन का दासत्व भी अधिक पुरुषों के अविवाहित रहने का कारण है। इसके कारण अयोग्य धनिकों के अनेक विवाह हो जाते हैं, पर बहुत से निर्धनी सुयोग्य पुरुषों का एक भी नहीं होने पाता। धन के लोभ से लोग स्त्रियों के असली सुख 'सुयोग्य पति' के महत्व को भूल गए हैं। अतएव इस प्रकार के प्रयत्न करना चाहिये जिनसे पुरुष बार २ विवाह न करें और निर्धनी सुयोग्य व्यक्तियों के भी विवाह हो सकें।

३-उपरोक्त दो कारणों के दूर होते होते जो कमी स्त्रियों की है उसके कारण जो पुरुष विवाह योग्य होने पर भी अविवाहित रह जाते हैं और संख्या का ह्रास सन्तानोत्पत्ति न करके करते हैं, उसका भी प्रबन्ध होना चाहिये। इसके

लिये एक यही मार्ग है कि अन्य उच्चजातियों में से वे कन्याओं को ले आवें। इसमें शास्त्र विरोध भी कोई उपस्थित नहीं होता, क्योंकि हम पहिले जीवंधरकुमार के चरित्र में देख चुके हैं कि जैन धर्मानुयायियों में इस प्रकार के विवाह चालू थे। अथवा श्री आदिपुराण जी के कथनानुसार इस ओर अविवाहित पुरुषों के लिये मार्ग खोल देना चाहिये। आदिपुराण का कथन है कि:-

"शूद्राशूद्रेण वोढव्या नान्या स्वां तां च नैगमः।
वहेत्स्वाते च राजन्यः स्वां द्विजन्माक्कचिच्चताः॥२४७॥१६॥"

कहा है कि ब्राह्मण चारों वर्णों की कन्याओं से, क्षत्री अपने वर्ण की तथा वैश्य और शूद्र की कन्याओं से और वैश्य अपने वर्ण की कन्या से तथा शूद्र की कन्या से विवाह कर सक्ता है। एवं शूद्र शूद्र ही से। इस कथन की पुष्टि जैन आर्षग्रन्थों के दायभाग के विवरणों से भी होती है जिसमें अन्य वर्णों की कन्याओं से उत्पन्न पुत्रों का अधिकार प्रथक लिखा है। (देखो "वीर" के १०वें अङ्क में "जैनलॉ" शीर्षक लेख) इनके अतिरिक्त मेधावी कृत श्रावकाचार और सोमदेव के त्रिवर्णाचार में भी वर्णों के परस्पर विवाह करने का उल्लेख है। एवं इसकी पुष्टि विक्रम सं० ६०० के एक शिलालेख से भी होती है जो जोधपुर के पास से मिला है। उसमें एक सरदार द्वारा जैनमन्दिर बनवाने का उल्लेख है तथा उसकी उत्पत्ति उस पुरुष से वतलाई है जिसका विवाह एक ब्राह्मण वंशज से हुआ था। और जब इस प्रकार हम शिलालेखीय प्रमाणभी इसकी पुष्टि में पाते हैं तो कोई कारण शेष नहीं रहता कि अन्य वर्णों अथवा जातियों में से कन्यायें स्वीकार न की जावें! हां शायद यह वात यहां पर वाधक हो कि अजैनों के साथ

किस तरह विवाह किया जाय ? सो पहिले तो शास्त्रों में इस बात का निषेध कहीं मिलता नही और यदि हम प्रथमानुयोग के चरित्र ग्रन्थों में ढूंढें तो हमें उल्टा ही माजरा मिलता है। राजा श्रेणिक अजैन थे और उनकी रानी चेलिनी जैन थीं, कवि धनजय जैन थे और उनकी स्त्री बौद्ध थीं। ऐसे ही खोजने से और भी उदाहरण मिलसकते हैं। इनसे प्रमाणित है कि हमारे पूर्वज धर्म का भी कुछ ख्याल नहीं रखते थे। परन्तु यदि आप एकदम इतनी लम्बी छलांग मारने को तैयार नहीं हैं तो लोहाचार्य प्रभृति इस काल के आचार्यों का अनुकरण कीजिये। इन आचार्यों ने विविध विधर्मी लोगों को जैनी बनाया और उनका परस्पर में विवाह सम्बन्ध खुलवा दिया। आराधना कथाकोष में एक से अधिक कथाएँ ऐसी हैं कि जिनसे प्रमाणित होता है कि जब कोई विधर्मी जैनी हो जाता था तो उससे विवाह सम्बन्ध खोल लिया जाता था। आदि पुराण में दीक्षान्वयक्रियायें इसही बात को लक्ष्य कर दीगई हैं।

अतएव ऐसी दशा में इस समय जो अविवाहित पुरुष हैं उन्हें अन्य जातियों से विवाह करने की आज्ञा पचायतों से मिलनी चाहिये ऐसा प्रबन्ध किया जाय। रहा इसमें शुद्धाशुद्धि का विचार सो यदि इसमें अशुद्धि होती तो हमारे आचार्यगण ही क्यों ऐसा विधान कर जाते और पूर्व पुरुष क्यों इस प्रकार के विवाह करते। आजकल भी बहुत से नराधम नीच जाति की स्त्रियों से गुप्त प्रेम रखते हैं और वह समाज में मान्य हैं। पर उनसे कोई अशुद्धि फैलती नहीं सुनाई पड़ती है तिस पर इस विषय में आदिपुराण जी में साफ कहा है कि 'जो हिंसा करता है वह अन्याय करता है और अन्याय करने वाला ही अशुद्ध है, और जो दया करता है वह न्यायवान है

और जो न्यायवान है वह शुद्ध है'। (श्लो० १४१ पर्व ३६)। इस कथन से किसी जाति वा वर्ण की अपेक्षाकृत शुद्धि प्रतीत नहीं होती। संभवतः यही कारण है कि पुरातन पुरुषों ने उक्त प्रकार से विवाह करने का नियम निर्धारित कर रक्खा था। और इस दृष्टि से तो भ्रूणहत्या आदि के रूप में हिंसा करने वा कराने के कारण स्वयं सारा समाज अशुद्ध हो रहा है। इसलिये यह उपाय शास्त्र के अनुकूल है और जाति की संख्या बढ़ाने का कारण है। इसका प्रयोग में आना अत्यन्त आवश्यक है। यदि किन्हीं भाई साहबों को प्राचीन आचार्यों के वचनों में श्रद्धा न हो और वे इस उपाय से अपने को अशुद्ध होता समझें तो इस प्रकार की व्यवस्था कर दी जाय कि ऐसे पुरुषों की एक जाति प्रथक रहे किन्तु सामाजिक अधिकारों के अतिरिक्त उनके धार्मिक अधिकार पूर्वक ही रहें। इस उपाय द्वारा संख्या की वृद्धि होगी और व्यभिचार भी रुकेगा इस पर शांत चित्त से विचार करना आवश्यक है। यह शास्त्र और द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव के अनुकूल है। इन्हीं का ध्यान हमारे पूर्वजों को रहा है जैसा कि हम प्रारंभ में देख चुके हैं कि इसी अपेक्षा कर रीतिरिवाज बदलते रहे हैं। इस का प्रचार करना अति लाभप्रद है।

ग्यारहवाँ कारण छोटी छोटी जातियों का होना और अपनी जाति के अतिरिक्त अन्य जातियों में विवाह न करना है। जैनशास्त्रों के अध्ययन से यह पता नहीं चलता कि अमुक समय में अमुक तीर्थंकर वा आर्ष पुरुष ने जाति व्यवस्था स्थापित की थी। सो भी किन नियमों पर? जिस प्रकार लौकिक प्रयोजन के निमित्त भगवान ऋषभदेव द्वारा वर्ण-व्यवस्था के स्थिर होने का उल्लेख है उसी प्रकार जाति के

स्थापन होने का कहीं भी कोई उल्लेख शास्त्रों में देखने में नहीं आता। इसलिए यही सिद्ध होता है कि मुसलमानी समय के लगभग लोग अलग अलग टोलीयांथ रहने लगे और वे अपने अन्य प्रान्तीय साधर्मी भाइयों के रीति रिवाजों और सम्पर्क से वञ्चित रहने के कारण उनको अपने से भिन्न समझने लगगए, जैसे कि हम प्रारम्भ में भी बतला आए हैं। यही बात युक्तिसंगत है क्योंकि यदि जाति का आपसी भेद प्राचीन काल से शास्त्रानुकूल होता तो आदि पुराण में उक्त प्रकार का भेद-लोपक विधान न होता। और जैन संहिताओं में शूद्राओं से उत्पन्न पुत्रों का अलग अधिकार नहीं दिया होता। प्राचीन जैन लेखों से विविध जातियों की उत्पत्ति उक्त प्रकार हुई है, यह प्रमाणित है। (देखो "जैन लेख संग्रह")

अतएव प्रकट हैं कि जाति भेद जैसा कि आज समाज में प्रचलित हैं शास्त्र सम्मत नहीं है। जिसके कारण विवाहक्षेत्र संकुचित हो रहा है और समाज की बड़ी हानि हो रही है। क्योंकि जैन समाज में ऐसी बहुतसी जातियां हैं जिनकी जन संख्या ५०० से भी कम है। यह अगले पृष्ठ पर दिये गये कोष्ठक से साफ प्रगट है जो 'दि० जैन डिरेक्टरी' से उद्धृत है :—

जाति	युक्त-प्रान्त	सी पी	रा० पू० मालवा	पंजाब	बम्बई	बंगाल बिहार	मद्रास मैसूर	कुल
खंडेलवाल ..	३५६२	१२९३	५३१३२	६१६	४८१४	१३०८	१	६४७२६
अग्रवाल. ...	२७६५२	३९३	१३५०३	२३३४६	५९६	१७३१	०	६७१२१
जैसवार... .	३३००	८६	५९१३	२०३	१०५८	३२१	११५	११०८९
परवार	९५४५	२३५१९	९६८१	१०	१८८	१३४	५९	४१९९६
पद्मावतीपरवार...	८७४४	१४६	२२९७	३५३	१२	३०	९	११५९१
पल्लीवाल......	३७५२	५७	४२२	०	०	११	०	४२७२
गोलालारे	२०९५	१९००	१५९२	०	२	२०	०	५५८२
बिनैकया......	६	३२२५	४२२	०	२	०	०	३६०५
ओसवाल. ...	१८	०	१२२	१७९	३८३	०	०	७०२
गंगेरवाल.....	१३६	६३६	०	०	०	०	०	७७२

जाति	युक्त प्रान्त	सी पी.	रा०पू० मालया	पंजाब	बम्बई	बङ्गाल विहार	मद्रास मैसूर	कुल
वड़ेले ……	१६	०	०	०	०	०	०	१६
बरैया… . .	५९	०	१५१२	०	०	१३	०	१५८४
फतहपुरिया……	१३५	०	०	०	०	०	०	१३५
पोरवाड़. …	१२५	०	०	०	०	०	०	१२५
बुढ़ेले ……	५५८	०	०	८	०	०	०	५६६
लोहिया….	५५०	०	५२	०	०	०	०	६०२
गोलसिंघारे……	३२९	२४	२५८	०	०	१८	०	६२९
खरौआ. ….	९८०	०	७२०	०	०	५०	०	१७५०
लमेचू. .	१६२२	२१८	१००	०	८	२९	०	१९७७
गोलापूरब …	७१४	९४७६	३७६	०	७०	०	०	१०६४०

"इस कोष्ठक में पाठक देखेंगे कि युक्त प्रान्त में गंगेरवाल, वडेले, वरैया, पोरवाड़ आदि कितनी ही जैन जातियां ऐसी हैं जिनकी संख्या ५०० से कम है और जो समग्र भारत में भी १००० से कम हैं। दि० जैन डाइरेक्टरी से विदित होता है कि केवल दि० संप्रदाय में ४१ जातियां ऐसी है जिनकी संख्या ५०० से १००० तक है; २० ऐसी हैं जिनकी १००० से ५००० तक है और १२ जातियां ऐसी हैं जिनकी संख्या ५००० से अधिक है। इनके अतिरिक्त ऐसी भी कई जातियाँ हैं जिनकी सख्या २० से लेकर २०० तक के बीच में है। ऐसी जातियां बड़े वेग से कम हो रही है यह दश वर्ष में आधी व एक तिहाई हो जाती हैं।.. इसका कारण यह है कि इन में विवाह बड़ी कठिनाई से होते हे। विवाह का क्षेत्र छोटा होने से और गोत्र आदि की अधिक झंझटों से प्रायः वे मेल विवाह करने पड़ते है। और इस प्रकार के विवाहों से जन संख्या की वृद्धि में कितनी रुकावट पड़ती है यह बतलाने की जरूरत नहीं।"

(जैनहितैषी ४५२)

"बुढ़ेले" जाति की जन संख्या सन् १९१७ में ८२६ थी। इन में ४५४ पुरुष थे और ३७२ स्त्रियाँ! इनमें कुल १७८ स्त्रीपुरुष विवाहित अर्थात् दम्पतिरूप में हैं। विधवायें ९४ हैं। ४५ वर्ष से कम उमर के ७३ पुरुष और १३१ बालक, इसतरह कुल २०४ पुरुष विवाह योग्य हैं। परन्तु कन्याओं की संख्या कुल १०० ही है। अर्थात् इस जाति के १०४ पुरुषोंके भाग्यमें जीवनभर विना स्त्रीके ही रहना लिखाहै।

इसके उपरान्त जो इस जाति की गणना मुशकिल से दो साल के बाद की गई तो वह मात्र ७७७ही संख्या में निकली। इसमें पुरुष ४२९ व स्त्रियां ३४८ निकलीं! अविवाहित बालक

१५३ और बालिका मात्र १०५ एव ३० वर्ष अथवा उससे कम के १० विधुर व १७ विधवायें हैं। और फिर यदि कहीं आज इसकी गणना की जाय तो कठिनता से ७०० की ही संख्या में मिलेगी। इसतरह विवाह क्षेत्र का सकोच ही यह कारण है कि वह एक दम घट रही है और ऐसी कठिन समस्या है कि सम्बन्ध करना कठिन हो रहे हैं क्योंकि करीब करीब सबका सबसे कोई न कोई पहिले का रिश्ता है। इस अवस्था में यह जाति अधिक दिन जी नहीं सक्ती। परन्तु यदि अन्य जातियों से विवाह सम्बन्ध होने लग जावे तो इस को संख्या बढ़ने लगे और अनमेल विवाह, कन्याविक्रय आदि न होकर परस्पर प्रेम की वृद्धि हो। प्रत्येक जाति में विवाह सम्बन्ध खुल जाना धार्मिक एवं सामाजिक दोनों दृष्टियों से लाभप्रद है। क्योंकि शास्त्रों में जब यथाविधि वर्णों में विवाह करने की आज्ञा है तो एक ही वर्ण के मनुष्यों के परस्पर विवाह करने में कोइ हानि नहीं हो सकती।

इसके अतिरिक्त शिलालेखीय ऐतिहासिक खोज से यह स्पष्टतः प्रमाणित है कि आज कल जो उपजातियां जैनसमाज में दिखलाई पड़ रही हैं, वे क्षत्रीवंश के परमार्जित वंश ही हैं यह बात पूर्णरूप से मेरी पुस्तक "प्राचीन जैन लेख एवं प्रशस्तिसंग्रह" जो 'जैनसुधाकर प्रेस, वर्धा' से प्रकट हुई है, प्रमाणित है। और यह शास्त्रसम्मत नहीं है कि एक वंश के पुरुष परस्पर विवाह संबन्ध करें। इसलिये इस समयअग्रवाल खण्डेलवाल आदि उपजातियों को परस्पर एक दूसरे से विवाह करना चाहिये। मूलाचार में एक स्थान पर स्पष्ट बतलाया है कि जो माता का कुल होता है वह तो संतान की जाति होती है और जो पिता का वंश होता है वह उसका कुल

होता है। ऐसी अवस्था में भी एक ही जाति में विवाहसम्बन्ध करना शास्त्रसम्मत नहीं है। शास्त्रसम्मत तो यही है कि एक जाति के स्थान पर अन्य जातियों से परस्पर रोटी-बेटी व्यवहार किया जाय। इस विषय में केवल शास्त्रीय-श्रावकाचार और आदिपुराण आदि प्रथमानुयोग की ही साक्षी मात्र प्राप्त नहीं हैं प्रत्युत प्राचीन शिलालेखोंसे भी यही प्रमाणित है कि पहिले इसी प्रकार वर्णों और पश्चात् जातियों में संबन्ध होते थे। शिलालेखों की नकल उपरोल्लिखित पुस्तक में देखी जासकती है। अतएव जब हमारे पूर्वज केवल अपने वर्ण की ही कन्याओं से नहीं बल्कि अन्य वर्णों की भी कन्याओं से विवाह करते थे तो आज आवश्यक्तानुसार उसका अनुकरण क्यों नहीं किया जाय! ऐसा करने से जाति का लोप कभी नहीं होगा। जिस प्रकार दूसरे गोत्र में विवाह करने से गोत्र भेद नहीं मिटता है उसी प्रकार दूसरी जाति में विवाह करने से जाति भेद भी नहीं मिटेगा!

सामाजिक रीतिरिवाजों में बाह्य भेद भले ही हों परन्तु वैसे जीवन नियम करीब २ समान ही हैं। इसलिये परस्पर विवाह सम्बन्ध सर्व जातियों में होना आवश्यक है। इसमें यह भय करना कि धनिक जाति के लोग गरीब जाति की सब लड़कियाँ लेलेंगे और उस जाति की संख्या एकदम घट जायगी, दूसरे शब्दों में वृद्धविवाह और कन्याविक्रय को जायज करना है। अस्तु यह भय भयमात्र है। इससे समाज का शारीरिक बल भी बढ़ेगा। क्योंकि मानसशास्त्र के वेत्ता सप्रमाण इस बात को सिद्ध करते हैं कि यदि कोई राष्ट्र उन्नति करना चाहता है तो उसे अपने अपने वर्ण के मनुष्यों में अन्तर्जातीय और अन्तर-प्रान्तीय विवाह करना चाहिये।

शेष कारणोंमें विवाहमें बाधक अन्य कारण गोत्रोंको टालने और जन्म पत्रियाँ मिलाना आदि हैं। इनका विचार स्थानीय पञ्चायत कर सकती है। इन बाधाओं का हटाना उपयोगी है। एक प्रबल कारण जाति का आपसी विरोध है। यह शिक्षा के प्रचार से मिट सकता है। अतएव शिक्षा प्रचार का विशेष प्रबन्ध होना चाहिये। साथ ही धर्मायतनों का हिसाब प्रतिवर्ष प्रकट नहीं किया जाता, वह भी इस विरोध का कारण है। इस का भी प्रबन्ध होना चाहिये। तथापि पञ्चायतों में निष्पक्ष भाव से निर्णय होना चाहिये, इस बात का महत्व जनता को समझाना आवश्यक है।

पञ्चायती संगठन में दृढ़ता आने से ही वास्तविक सुधार हो सकेगा। इसमें सबसे पहिले इस सुधार की आवश्यकता है कि जातीय पक्ष को निकाल दिया जाय। आजकल पञ्चायतों में जातीय पक्षपात चर्म-सीमा को चढ़ा हुआ है। यहां तक कि उसके समक्ष-धार्मिक सिद्धान्त का भी खयाल नहीं किया जाता है। एक सम्यग्दृष्टी-जिनधर्म के श्रद्धानी के लिये जातिमद, कुलमद पापोपार्जन के कारण बताये हैं। आजकल लोग इस बात की तनिक भी परवाह नहीं करते। यह जातीय पक्षपात परस्पर रोटी बेटी व्यवहार के खुलने से बहुत जल्दी दूर होजायगा। अतएव पचायतों के जातीय एवं व्यक्तिगत पक्षपात से शून्य होने के लिये आवश्यक है कि उनका यथोचित संगठन किया जाय। प्रत्येक पञ्चायत का उद्देश्य हो कि वह स्थानीय मन्दिर आदि धार्मिक संस्थाओं एवं सामाजिक दशा की उन्नति का प्रबन्ध करे। उन उद्देश्यों की सिद्धि सुचारु रीति से हो सके इसके लिये प्रत्येक पंचायतों को अपने नियम सर्वसम्मति से बना लेना चाहिये। जैसे प्रत्येक

वर्ष कार्यकर्ताओं का चुनाव, आमदनी और खर्च का निश्चय एवं गत विगत का ब्योरेवार हिसाब तथा जीर्णोद्धार,ग्रन्थोद्धार का निर्णय और समाजोन्नति के लिये उक्त उपायों को प्रचार में लाने के नियम जो इस पुस्तक में बताये गये हैं इस के लिए आवश्यक है कि कायदेवार स्थानीय घरों में से एक एक पञ्च चुना जाय। उनमें से एक सभापति, एक मन्त्री, एक खजानची और एक निरीक्षक साधारणरूप में चुने जायँ तथा खास काम के लिए अन्य व्यक्ति नियत कीये जायँ। इन सब का चुनाव सर्व सम्मति से हो। पञ्चायती नियमों का पालन समुचित रीति से हो रहा है या नहीं इस बात के लिये हर महीने में एक वार पंचायत एकत्रित होना चाहिए। मंत्री सब कार्य लिखित रूप में रक्खे, जिससे कोई विवाद नहो। इस तरह का संगठन होने पर शीघ्र ही ज़रूरी सुधार सर्वत्र हो जावेगा।

उपरोक्त वर्णन में हम देखचुके हैं कि हमारे यहाँ स्त्रियों की उचित देखभाल नहीं होती। उनकी शिक्षा का प्रबन्ध नहीं होता। उनके शारीरिक स्वास्थ्य की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। इस कारण उनकी मृत्यु अधिक होती है। उनका उचित आदर किये जाने और उनमें ज्ञान-संचार करने का प्रबन्ध होना चाहिए। अन्य दो कारणों में गाँवों को जैनी छोड़ कर शहरों में बसते जाते हैं। कारण इसका यही है कि उनका शारीरिक बल उतना नहीं रहा है जो वे ग्राम्य जीवन व्यतीत करसकें। तिसपर व्यापार निमित शहरों में वे अधिकता से आजाते हैं। सरकारी रिपोर्ट के निम्नांक से ज्ञात हो जायगा कि फ़ी सैकड़े कितने जैनी शहरों में रहते हैं:—

बङ्गाल ५६.२, विहार ३७ ८, बम्बई ३६ ६, बर्मा ८६.१,

मध्यप्रान्त २५.५, मद्रास १०६, पंजाब ५३.३, और संयुक्तप्रांत ३६७।

इनमें मद्रास और मध्यप्रांत ही ऐसे प्रान्त हैं जिनमें जैनी ग्रामों में अधिक रहते हैं। यह भी एक कारण है कि वहाँ के जैनियों की संख्या बड़ी है, जैसे कि हम पहिले देखचुके हैं। बात यह है कि गाँव में रहने से श्रम अधिक करना पड़ता है। जिससे स्वास्थ्य ठीक रहता है। यहाँ का जीवन भी साधारण होता है। शहर का जीवन इसके विपरीत स्वास्थ्यनाशक है। तिसपर यहां पर व्यभिचार भी अधिक होता है। इस कारण शहरों में रहने से जन संख्या का भी ह्रास होता है। क्योंकि ग्राम-वासियों की जन-संख्या की वृद्धि शहरवालों से अधिक होती है। इसलिए जैनियों को ग्राम जीवन व्यतीत करने को उत्साहित करना चाहिए। इसके लिए उनके बालकों को कृषि शास्त्रका ज्ञान कराना चाहिए, जिससे वह उसके ज्ञाता होकर नवीन प्रणाली पर ग्रामों में रहकर खेती करावें। स्वयं अधिक लाभ उठावें और देशको सुखी बनावें। अन्तिम कारण हमारे निरुत्साह का द्योतक है। हमने अपने बालकों को धर्म का यथार्थ मर्म समझाया नहीं। इस कारण वे अन्यधर्मी होजाते हैं। खासकर ऐसे पुरुष ही अधिक होते हैं जिनका विवाह नहीं होता, अथवा जो जाति से पतित करदिए जाते हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि धर्मका ज्ञान प्रत्येक जैनी बालक को छुटपन से करादेना चाहिए। और जाति से अलहिदा करने का दण्ड उस अवस्था में दियेजाने का नियम करना चाहिए जब वैसा व्यक्ति धर्म और समाज के विरुद्ध बिल्कुल ही हो गया हो। मामूली बातों के लिये यह दण्ड नहीं देना चाहिए। दूसरे पतित पुरुषों को अनादर और अप्रेम की दृष्टि से नहीं

देखना चाहिए। उसके आचरण यदि शुद्ध हो जायं तो उसे उचित धर्माधिकार भी पालन करने दिए जायं। ऐसे पतित लोगों की शुद्धाचरण सन्तानों को तो पूरी तरह से श्रावक के षटावश्यकों आदि का पालन करने देना चाहिए। ऐसा करने से जैनी विधर्मी नहीं होंगे और मन्दिरों में पूजा आदि की व्यवस्था भी उत्तम रहेगी। साथही इसके हमें अन्यलोगों में भी धर्मका प्रचार करना चाहिए। उनके लाभके लिए पाठशालाएँ, औषधालय आदि खोलना चाहियें जिस से उनको विश्वास हो कि जैनी हमारी भलाई करना चाहते हैं और जैन धर्म अच्छा है जो ऐसी शिक्षा देता है। तब उनको जैनधर्म जानने की इच्छा होगी और वे जैनी बनेंगे। फिर जिस जातिके वे मनुष्य हों उस जाति में वे सम्मिलित करलिए जावें। जैसे अजैन अग्रवाल अग्रवालों में, और जिनकी जाति का कोई न हो उनकी अलग जाति बनजाय। ऐसे जैनियों को उचित रीति से पूजा आदि करने देना चाहिये।

इस प्रकार यदि ऊपर बताए हुए कारणों को हटाकर बताए हुए उपायों को कार्यरूप में परिवर्तित किया जाय तो जैन जाति की उन्नति होने लगे और जैनधर्म का प्रकाश चहुं ओर फैलजावे। तथैव उसका ह्रास होना रुक जावे। इन कारणों और उपायों का ज्ञान सर्वसाधारण को कराने की आवश्यक्ता है। अतएव आशा है कि समाज के नवयुवक इस कार्य के करने के लिए मैदान में आवेंगे और जाति के गण-मान्य सज्जन उनकी पूरी सहायता करेंगे।

इति